वर्ष 2, अंक 5, जनवरी-2016
पौष, वि. सं. 2072, ₹50

अंदर के पृष्ठों पर

मंगल विमर्श

त्रैमासिक

वादे वादे जायते तत्त्वबोधः

06-19
धारणक्षम
मंगल जीवनशैली की तलाश
डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

20-25
आत्मवान् पूर्व, आत्महीन पश्चिम
बनवारी

26-31
संबंधों का नाम ही है जिंदगी
डॉ. राजवीर शर्मा

32-35
संबंधों की व्याख्या विज्ञान के संदर्भ में
डॉ. ओम प्रभात अग्रवाल

36-41
समकालीन साहित्य का अधूरा काल बोध
डॉ. प्रमोदकुमार दुबे

42-49
भारतीय भाषाएँ और छात्रों के मानवीय अधिकारों का प्रश्न
डॉ. कुलदीप चंद अग्निहोत्री

50-55
बदलता मौसम और स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता
डॉ. ज्योत्स्ना

56-61
बांग्लादेशी घुसपैठ ...तुष्टीकरण की राजनीति
अजय ठाकुर

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

प्रधान संपादक
ओमीश परुथी

संपादक
सुनील पांडेय

संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल

प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

प्रकाशक एवं मुद्रक आदर्श गुप्ता द्वारा मंगल सृष्टि, सी-84, अहिंसा विहार, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली- 110085 के लिए प्रकाशित एवं एक्सेल प्रिंट, सी-36, एफ एफ कॉम्प्लेक्स, झंडेवाला, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

RNI
DELHIN/2015/59919
ISSN
2394-9929
ISBN
978-81-930883-3-3

फोन नं.
+91-9811166215
+91-11-27565018
ई-मेल
mangalvimarsh@gmail.com
वेब साइट
www.mangalvimarsh.in

मंगल विमर्श पत्रिका में व्यक्त विचारों के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी हैं। संपादक, मुद्रक व प्रकाशक का उनसे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

सभी विवादों का न्याय क्षेत्र केवल दिल्ली होगा।

वंदे मातरम्
सुजलां सुफलां मलयज शीतलाम्,
शस्य श्यामलं मातरम्।
शुभ्र ज्योत्स्ना पुलकित यामिनीम्
फुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनीम्
सुहासिनीं सुमधुर भाषिणीम्
सुखदां वरदां मातरम्
वंदे मातरम्।।

कोटि-कोटि कंठ कल-कल निनाद कराले,
कोटि-कोटिर्भुजैर्धृत खर कर वाले।
अबला केनो माँ एतो बले।
बहुबल धारिणीं, नमामि तारिणीम्,
रिपुदल वारिणीं मातरम्।
वंदे मातरम्।।

तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि हृदि, तुमि मर्म,
त्वं हि प्राणाः शरीरे
बाहु ते तुमि माँ शक्ति, हृदये तुमि माँ भक्ति,
तोमारई प्रतिमा गड़ि मन्दिरे-मन्दिरे मातरम्
वंदे मातरम्।।

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरण धारिणी
कमला कमलदल विहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वाम्
नमामि कमलां अमलां अतुलाम्,
सुजलां सुफलां मातरम्
वंदे मातरम्।।

श्यामलां सरलां, सुस्मितां भूषिताम्
धरिणीं भरणीं मातरम्।
वंदे मातरम्।।

अथ

समाज के सुचारु संचलन के लिए उसके विविध वर्गों में पारस्परिक सद्भाव व सौहार्द अपेक्षित है। भारतीय समाज विविध जातियों, पंथों व संप्रदायों से संकुल है, अतः इन मूल्यों की भूमिका और भी महनीय हो जाती है। यहाँ का बहुसंख्यक वर्ग अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिए जाना जाता है। अन्य वर्ग भी सदाशयता के महत्त्व को समझते हैं। फिर भी कभी-कभार 'दादरी' जैसी शोचनीय घटना घट जाती है, जो बहुत दुर्भाग्यपूर्ण व निंदनीय है। ऐसी ही छिटपुट घटनाओं की आड़ में तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों द्वारा भारत में असहिष्णुता का मुद्दा खड़ा किया जा रहा है, जो हवाई ज्यादा, साधार कम है।

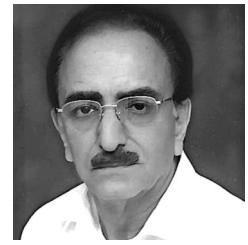

ओमीश परुथी
एसोसिएट प्रोफेसर (से.नि.)
प्रधान संपादक

इस वर्ष अगस्त माह में लेखक एम.एम. कुलबर्गी की हत्या वास्तव में चिंत्य व दुखद है, लेकिन यह भी विचारणीय है कि असामाजिक तत्त्वों के द्वारा ऐसे दुष्कर्म काफी पहले से हो रहे हैं। इसे व्यक्ति विशेष अथवा वर्तमान सरकार से जोड़कर देखना नासमझी है। कोई भी प्रबुद्ध व संवेदनशील व्यक्ति ऐसी घिनौनी घटनाओं को स्वीकार नहीं करेगा, लेकिन अफसोस है कि ऐसी घटनाएँ पहले से हो रही हैं, अचानक शुरू नहीं हुईं।

20 अगस्त, 2013 को समाजसेवी नरेंद्र अच्युत डाभोलकर भी निर्ममतापूर्वक मार दिए गए। 'व्हिसल ब्लोअर' सत्येंद्र व मंजुनाथ का भी यही अंत हुआ था, फिर आज ऐसा क्या घट गया कि लेखक, कलाकार 'साहित्य अकादमी' के अवार्ड लौटाने लगे। वामपंथी विचारधारा से ग्रस्त विचारक, प्रवक्ता व इतिहासकार हर मंच से असहिष्णुता का राग अलापने लगे। उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए कुछ वोट लोलुप राजनेता भी सनसनीखेज व नाटकीय अंदाज में राई को पहाड़ बनाकर पेश करने लगे। ये लोग क्यों भूल गए कि तसलीमा नसरीन को बंगाल से निर्वासित करने वाली उनकी अपनी सरकार थी। सांप्रदायिक ताकतों के दबाव में आकर उन्होंने 'कोलकाता पुस्तक मेले' में लेखिका की पुस्तक का विमोचन कार्यक्रम रुकवा दिया था। तब उक्त लेखकों ने न विरोध जताया था, न पुरस्कार लौटाए थे। तब उनकी संवेदना कुंठित क्यों हो गई थी? इसी प्रकार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के ये अलमबरदार तब मौन क्यों साधे रहे जब 1987 में सलमान रश्दी की पुस्तक बैन करने में भारत ने पहल की थी।

पुस्तकों पर बैन लगाने का सिलसिला तो नेहरू युग से ही शुरू हो गया था। अलेक्जेंडर कैंपबेल की पुस्तक 'द हार्ट ऑफ़ इण्डिया' को 1959 में प्रतिबंधित किया गया था। उसके बाद 'नेहरूः अ पोलिटिकल बायॅग्राफी', 'अर्ली इस्लाम' व 'इंडिया इंडिपेंडेंट' इत्यादि पुस्तकों को बैन किया गया।

दरअसल कुछ लोगों से मोदी के नेतृत्व में भारत की विकासोन्मुखता, विदेशों में बढ़ती प्रतिष्ठा तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उत्कर्ष देखा नहीं जा रहा। इन्हीं लोगों ने अपनी हताशा व हड़बड़ाहट छिपाने के लिए 'असहिष्णुता का हवाई किला' खड़ा किया है। हुआ यों कि सत्ता छिन जाने के बाद कांग्रेसजन घोर हताश हो गए। उनकी गोद में बैठकर पद, उपाधि व पुरस्कार प्राप्त करने के अभ्यस्त वामपंथी भी खिन्न व खीझे हुए हैं। केवल वे ही असहिष्णुता का रोना रो रहे हैं। अन्यथा आम आदमी, मुसलमान या हिंदू, सहज व सामान्य जीवन जी रहे हैं। अशांत व उत्तेजित तो हाशिये पर रेंग रहे छुटभैये हैं, जो अनर्गल व भड़काऊ बयान देकर समाज का अहित कर रहे हैं। समाज के प्रबुद्ध वर्ग को ऐसे निहित स्वार्थी तत्त्वों के प्रति सार्थक भूमिका निभानी चाहिए।

जीवनशैली एक अत्यंत व्यापक, बहुआयामी-बहुपक्षीय अवधारणा है। सामान्यतया किसी समाज विशेष की जीवनशैली उसके खान-पान, रहन-सहन, काम-धाम, चाल-चलन और आचार-विचार से संबंधित आदतों, व्यवहारों एवं परंपराओं से मिलकर बनती और प्रकट होती है। सरल एवं संक्षेप में जीवनशैली से आशय है 'जीवन जीने का ढंग'। जीवनशैली के तीन मुख्य घटक हैं– उपभोग शैली, आचार-व्यवहार शैली और कार्यशैली। वस्तुतः ये तीनों घटक परस्पर संबंधित एवं परस्परावलंबित हैं। हिंदू चिंतन धारणा में जीवनशैली को आहार, विहार और आचार की शब्दावली में निरूपित किया गया है।

धारणक्षम मंगल जीवनशैली की तलाश

-डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

जीवनशैली किसी भी समाज की विकास-प्रक्रिया का कारण और परिणाम दोनों है। यह विकास की दिशा व दशा का निर्धारण करती है; सभ्यता, संस्कृति एवं जीवनमूल्यों को अभिव्यक्ति देती है; सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं एवं परंपराओं का सृजन एवं निर्वहण करती है; आर्थिक गतिविधियों का नियमन एवं निर्देशन करती है तथा उत्पादन शैली और तकनीक व तकनोलॉजी को धारण करती है। इस प्रकार जीवन शैली समाज के संपूर्ण क्रियाकलापों में न केवल उपस्थित भर है, बल्कि उनके साथ सजीव एवं सक्रिय रूप से सदैव अंतर्क्रिया करती रहती है। यह समाज के समूचे कार्यकलाप के लिए आगत (इंपुट) है और निर्गत (आउटपुट) भी। वस्तुतः जीवनशैली, उत्पादनशैली और विकासशैली का अन्योन्याश्रित संबंध है। आज के विकास एवं व्यवस्था के संकट के मूल में जीवनशैली का संकट ही है। भ्रष्ट एवं दोषपूर्ण जीवनशैली के रहते सर्वमंगलकारी विकास एवं व्यवस्था की कल्पना ही नहीं की जा सकती। धारणक्षम मंगल विकास के लिए धारणक्षम मंगल जीवनशैली का होना नितांत अनिवार्य है। इस बात पर तो अब लगभग सब सहमत हैं कि आधुनिकता के नाम पर वर्तमान

में पाँव पसार रही आज की जीवनशैली इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रही। वह तो संकट का समाधान नहीं वरन् उसे और विकराल ही बना रही है। अतः आज संपूर्ण मानवता संकटापन्न है और विश्व के सभी प्रबुद्ध विचारक-मनीषी एक नई वैकल्पिक धारणक्षम जीवनशैली की तलाश में हैं। इस तलाश में हिंदू मनीषियों द्वारा व्यक्त विचार और उनके द्वारा बताई गई मर्यादाएँ, व्यवस्थाएँ, आहार, विहार और आचार के धर्म निश्चित ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए यहाँ वर्तमान जीवनशैली की विशेषताओं व विसंगतियों का निष्पक्ष-निरपेक्ष मूल्यांकन और हिंदू जीवनमूल्यों पर आधारित वैकल्पिक जीवनशैली के आधारभूत तत्त्वों का एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

उपभोक्तावाद के दबाव में उपभोक्ता ऋण बढ़ रहे हैं और पारिवारिक बचतें सिकुड़ती जा रही हैं। एक ओर जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं से वंचित और बीमारी से तड़पती विकट दरिद्रता है, तो दूसरी ओर मर्यादाहीन, निरंकुश, अश्लील और हिंसक भोगवाद है।

वर्तमान जीवनशैली-उपभोगशैली : समस्याएँ एवं विसंगतियाँ

इसमें तो कोई दो मत नहीं हैं कि बीसवीं शताब्दी के दौरान उपभोग की मात्रा और विविधता, दोनों में ही असाधारण वृद्धि हुई है। 1998 में विश्व का कुल उपभोग बढ़कर 240 खरब (ट्रिलियन) डॉलर तक पहुँच गया था, जबकि 1900 में यह मात्र 15 खरब डॉलर ही था। भारत में भी कुल उपभोग में तो अच्छी वृद्धि हुई है, किंतु इस उपभोग का वितरण बहुत ही गलत ढंग से हुआ है। इसके परिणामस्वरूप अभावों के अंबार और असमानताओं में भी तेजी से वृद्धि हुई है। विश्व के लगभग एक अरब लोग (विश्व आबादी के लगभग 20 प्रतिशत) और भारत के लगभग एक-तिहाई लोग आज भी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए तरस रहे हैं। विश्व के कुल निजी उपभोग व्यय में अमीर देशों में रहने वाले विश्व के 20 प्रतिशत लोगों का हिस्सा 86 प्रतिशत है, जबकि निर्धनतम 20 प्रतिशत लोगों का हिस्सा केवल 1.3 प्रतिशत है। अमीरों के लिए बाजार में जाकर खरीदारी करना फैशन और हॉबी हो गया है। खरीद और खर्च की होड़ लगी है। प्रतियोगी व्यय और प्रदर्शनकारी उपभोग के दबाव, कुछ चंद लोगों को भले ही समृद्धि एवं सुख-सुविधाएँ दे देते हों, पर ज्यादातर को तो वे अलग-थलग कर सामाजिक दृष्टि से किनारे ही खड़ा कर देते हैं। उपभोग की असमानता गरीबी और सामाजिक अलगाव के घाव को और अधिक गहरा कर देती है। उपभोक्तावाद के दबाव में उपभोक्ता ऋण बढ़ रहे हैं और पारिवारिक बचतें सिकुड़ती जा रही हैं। एक ओर जीवन की अनिवार्य आवश्कताओं से वंचित और बीमारी से तड़पती विकट दरिद्रता है, तो दूसरी ओर मर्यादाहीन, निरंकुश, अश्लील और हिंसक भोगवाद है। इस भोगवादी जीवनशैली ने स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय सभी स्तरों पर ऐयाशी के पैरों तले दरिद्रता को रोंदने का दारुण चित्र उपस्थित कर दिया है।

जब उपभोग संसाधनों का क्षरण, पर्यावरण का प्रदूषण, विलासी एवं प्रदर्शनकारी उपभोग के लिए विनिर्मित वस्तुओं की प्राप्ति की ललक में वृद्धि तथा देश के आम आदमी को आम-जरूरत की वस्तुओं से वंचित करने

अजनबीपन, अकेलापन, असुरक्षा का अहसास, अपनी व्यक्तिगत पहचान खोजने की व्याकुलता, भागमभाग, शोर, क्षमता से अधिक हासिल करने का दुर्दम्य प्रयास, दूसरों को कुचलकर आगे बढ़ने की हड़बड़ी, मानसिक तनाव, संत्रास, बेचैनी, क्षुद्रता का अहसास ये सब आधुनिक महानगरीय जीवनशैली के अनिवार्य अंग बन चले हैं। घर की जिंदगी, बातचीत, खानपान, पूजा-पाठ, रस्म-रीतिरिवाज, पर्व, परंपरा, अतिथि सत्कार ये सब जो कभी सहभागिता, सहयोग और सहिष्णुता के बीज होते थे, खत्म होते जा रहे हैं।

लगे तो यह निश्चत ही चिंता का विषय हो जाता है। आज हम उपभोक्तावाद पर आधारित उपभोग की जिस शैली एवं तौर-तरीकों को अपना रहे हैं, उसका पर्यावरण और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से लंबे समय तक टिक पाना संभव नहीं लगता। जल, वायु और मिट्टी प्रदूषण के कारण हमारे चारों ओर प्रदूषित वातावरण का घेरा और अधिक गहरा होता जा रहा है। प्रदूषण और कचरे के ढेर धरती की हजम करने की हद पार करते जा रहे हैं। ऊर्जा के स्रोत के रूप में तेल, प्राकृतिक गैस और कोयले को जलाने से उत्पन्न ग्रीन हाउस प्रभावों के कारण धरती की तपन लगातार बढ़ती जा रही है। ओजोन की परत पतली पड़ती जा रही है। ओजोन परत के क्षय के कारणों में सबसे प्रमुख कारण है क्लोरो-फ्लोरो कार्बन (CFC) वर्ग के रसायनों का उत्पादन, जिनका उपभोग आए दिन रेफ्रीजरेटरों, वातानुकूलक यंत्रों, फोम, रंग-रोगन, ऐरोसोल आदि में बढ़ता जा रहा है। इतना ही नहीं, विश्व की 20 प्रतिशत जनसंख्या वाले संपन्न देश उत्पादन, उपभोग एवं जीवन शैली के वर्तमान ढाँचे को बनाए रखने के लिए विश्व के 80 प्रतिशत संसाधनों, 50 प्रतिशत भू-क्षेत्र और 60 प्रतिशत ऊर्जा का उपयोग करते हैं और इनका विश्व की 85 प्रतिशत आय पर कब्जा है। दुनिया के संपन्न देश पर्यावरण में 80 प्रतिशत सीएफसी (CFC) फैंकते हैं, जिसमें अकेले अमेरिका का हिस्सा 22 प्रतिशत है। अतः वर्तमान उपभोग व जीवन शैली न व्यवहारक्षम है और

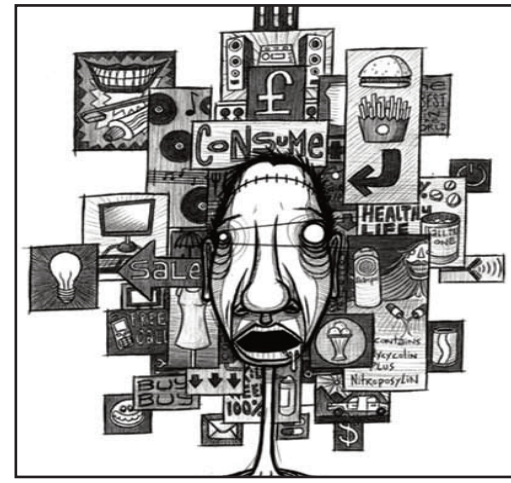

हम उपभोक्तावाद पर आधारित उपभोग की जिस शैली एवं तौर-तरीकों को अपना रहे हैं उसका पर्यावरण और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से लंबे समय तक टिक पाना संभव नहीं लगता।

न ही धारणक्षम। अजीब बात तो यह है कि विश्व के कुल उपभोग में मुख्य हिस्सा तो अमीर देशों का है, किंतु विश्व के उपभोग से होने वाली पर्यावरणीय हानि का मुख्य बोझा गरीब देशों को उठाना पड़ता है। विकासशील देशों के 30 से 50 बच्चों के मुकाबले औद्योगिक देशों का एक अकेला बच्चा विश्व के कुल उपभोग और प्रदूषण में अधिक वृद्धि करता है।

आक्रामक विज्ञापनों के माध्यम से उपभोक्ताओं को अपनी वस्तुएँ बेचने को लेकर भी जबरदस्त होड़ चल रही है। एक औसत अमेरिकन अपने जीवनकाल में टेलीविजन पर लगभग डेढ़ लाख विज्ञापन देखता है। एक अनुमान के अनुसार समस्त विश्व के विज्ञापनों

पर प्रतिवर्ष लगभग 435 अरब डॉलर खर्च किए जा रहे हैं। भारत में भी इन आक्रामक प्रतियोगी विज्ञापनों का तेजी से प्रसार होता जा रहा है। विज्ञापनों में नारी देह को नग्न अथवा अर्धनग्न अवस्था में दिखाना, अश्लील एवं कामुक तौर-तरीकों से वस्तुओं को पेश करना, सिने अभिनेताओं, अभिनेत्रियों, सौंदर्य प्रतियोगिता की सुंदरियों, खेल जगत् के प्रसिद्ध खिलाड़ियों आदि के ग्लेमर को भुनाना, अबोध बालकों की बाल सुलभ चेष्टाओं का शोषण करना तथा धार्मिक-सांस्कृतिक मान्यताओं एवं प्रतीकों का दुरुपयोग करना आम बात हो चली है। आज की उपभोक्तावादी जीवन शैली के आकार लेने और उसके प्रचार-प्रसार में इस प्रकार के विज्ञापनों की दखलंदाजी लगातार बढ़ती जा रही है। विशेष चिंता की बात तो तब हो जाती है, जब ये विज्ञापन ग्राहकों को गलत व भ्रामक सूचनाओं के मोहजाल में फँसाकर बहकाना-भरमाना-फुसलाना शुरू कर देते हैं। इससे उपभोक्ताओं पर ऊँची कीमत के रूप में बोझ बढ़ जाता है, उपभोग की विवेकसम्मत प्राथमिकताएँ उलट जाती हैं, फिजूलखर्ची बढ़ जाती है और देश की बचत एवं साधन गलत दिशा में मुड़ जाते हैं। इन विज्ञापनों के माध्यम से बालकों एवं महिलाओं की कोमल भावनाओं, संवेगों व संवेदनाओं को जिस प्रकार भुनाया जाता है, उसके कारण हमारे देश के संपूर्ण पारिवारिक-सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने के लिए ही खतरा उत्पन्न हो गया है।

यौन संबंधों के समुचित नियमन से ही यह संभव है कि प्रकृति-प्रदत्त यौन आवेग को संतृप्ति को, प्रेम का अवलंब मिले और वह प्रेम के माध्यम से गौरवांवित और सौंदर्यांवित हो। यह एक अत्यंत महत्त्व की बात है कि हिंदू परंपरा में काम को देवता मानकर 'कामदेव' की कल्पना की गई है।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व भर के उपभोक्ता बाजारों का समन्वय कर वर्तमान उपभोग शैली के घाव को और अधिक गहरा कर दिया है। उपभोक्ता बाजारों के वैश्वीकरण और आक्रामक विज्ञापनों के कारण विलासी एवं प्रदर्शनकारी उपभोग के माध्यम से समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना लेने की एक नई होड़ प्रारंभ हुई है। इस होड़ ने स्टेट्स-गुड्स (Status goods), ग्लोबल-गुड्स (Global goods) आदि नामों से वस्तुओं की एक नई किस्म तथा ग्लोबल-इलीट्स (Global elites), ग्लोबल-मिडिल क्लास (Global middle class) एवं ग्लोबल-टींज (Global teens) जैसे नामों से शेष समाज से अलग-थलग उपभोक्ताओं के एक नए वर्ग का ही निर्माण कर डाला है। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया ने उपभोक्ता बाजारों में विविध प्रकार की चमचमाती-दमदमाती ढेर सारी वस्तुएँ भर डाली हैं। इसने कुछ थोड़े से अमीर लोगों को तो ढेर सारी वस्तुएँ उपलब्ध करा दी हैं, किंतु ज्यादातर लोग क्रयशक्ति के अभाव में उन वस्तुओं के मात्र दर्शक बनकर ही रह गए हैं। वे वस्तुएँ लेना तो चाहते हैं, पर ले नहीं पाते। इससे उनमें एक खास तरह की अतृप्त लालसा व कुंठा जन्म लेती जा रही है, जो कभी-कभार अपराधों व उपद्रवों के रूप में फूट पड़ती है। अकूत अमीरी, मल्टी चैनल रंगीन टी.वी., कामुक फिल्मों, बाजार, विज्ञापन, वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद ने मिलकर ऐश्वर्य और समृद्धि की रंग-बिरंगी मायानगरी का एक ऐसा महादृश्य निर्माण कर डाला है, जिसे देखकर वंचित तबका पहले तो भौंचक्का हो जाता है, फिर इस महँगी उपभोक्ता सामग्री तक न पहुँच पाने की मजबूरी से उसमें हताशा जन्म लेती है और आगे चलकर यह हताशा ही अपहरण, लूटमार, ठगी

और समृद्धों की हत्याओं के रूप में प्रकट होने लगती है।

उपभोक्तावादी जीवनशैली एक मधुर विष है, एक खास तरह का ग्लेमर है। मल्टी चैनल टी.वी. से चौबीसों घंटे बरसने वाले विज्ञापन, सौंदर्य प्रतियोगिताएँ, फैशन परेड, बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा प्रायोजित खेल-टूर्नामेंट, तीज-त्योहार और मेले-नुमाइशें, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय ट्रेड फेयर– ये सभी इस जीवन शैली के अस्त्र-शस्त्र हैं।

आर्थिक संपन्नता एवं उसमें से जनमी जीवन शैली को मानवीय व नैतिक दिशा न मिलने के कारण ही आज के संपन्न देशों व समाजों में सामाजिक-सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक संकट पैदा हो रहे हैं। विवाह संबंधों में बढ़ती टूटन, तलाक, पारिवारिक विघटन, विवाहपूर्व गर्भवती स्त्रियों तथा विवाहेतर बच्चों की संख्या में वृद्धि, अपराध और आपराधिक मानसिकता का बढ़ते जाना, हत्याएँ, आत्महत्याएँ, बलात्कार की बढ़ती जा रही घटनाओं, नशीली दवाओं के सेवन में वृद्धि, मानसिक असंतुलन, मनोरोग और मानसिक अशांति में वृद्धि आदि सभी समस्याएँ वर्तमान जीवन शैली की ही देन हैं।

विशेषकर हमारी युवा पीढ़ी खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार, मौज-मस्ती, सभी दृष्टियों से उपभोक्तावादी जीवनशैली की गिरफ्त में फँसती जा रही है। विचित्र व्यंजन, बहुविज्ञापित मदिराएँ, अन्य मादक पदार्थ, वेश-भूषा, साज-सज्जा और मेकअप पर अनाप-शनाप खर्च किया जाता है। नित्य नए फैशन जन्म लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक विशृंखलता, अपसंस्कृति और नैतिक महाशून्यता की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। अनैतिक और अमर्यादित कमाई से अमीर बने माँ-बाप के बच्चे बेलगाम और बेनकेल होते जा रहे हैं। उन्हें चाहिए बेहतरीन कपड़े-लत्ते, बेपरवाही से ड्राइव करने के लिए गाड़ियाँ, नाचने-झूमने के लिए होटल, सैर-सपाटे के लिए नग्नता के नाच से सरोबार पर्यटन केंद्र, लड़कों को गर्लफ्रेंड और लड़कियों को ब्वॉय फ्रेंड, खाने-खरीदने, चीजों का इस्तेमाल करने और फैंकने की आजादी, देर रात की पार्टियों, पब, डिस्को, डेटिंग, विवाहेतर यौन संबंध, विवाहपूर्व यौन संबंध और अनेक लोगों के साथ यौन संबंध। यह आनंदवादी-सुखवादी उपभोक्तावाद की वह जीवन शैली है, जो प्रगतिशीलता, आधुनिकता और औरत की आज़ादी के नाम पर पसरती जा रही है। इतना ही नहीं, नाइट क्लब और फाइव स्टार वाली जीवन शैली किस हद तक क्रूर और अमानवीय हो सकती है, इसके अनेक उदाहरण सामने आने लगे हैं। इसी क्रम में तो व्हिस्की देने से इनकार करने पर कुछ मनचले नवयुवकों ने जेसिका लाल को गोली मार दी और लखनऊ में आइसक्रीम वाले रघुराज को 'कसाटा' न होने पर मार डाला गया।

'क्विक मनी' और 'क्विक पावर' वाला तथाकथित उच्च समाज अपनी मौज-मस्ती के लिए अलग-थलग गोपनीय अड्डे या आरामगाह की खोज में रहता है। बीना रमानी जैसे सोशलाइट्स इन नवसमृद्धों के खालीपन को भरने के लिए ही तो अड्डे चलाते हैं।

अजनबीपन, अकेलापन, असुरक्षा का अहसास, अपनी व्यक्तिगत पहचान खोजने की व्याकुलता, भागमभाग, शोर, क्षमता से अधिक हासिल करने का दुर्दम्य प्रयास, दूसरों को कुचलकर आगे बढ़ने की हड़बड़ी, मानसिक तनाव, संत्रास, बेचैनी, क्षुद्रता का अहसास– ये सब आधुनिक महानगरीय जीवनशैली के अनिवार्य अंग बन चले हैं। घर की जिंदगी, बातचीत, खानपान, पूजा-पाठ,

रस्म-रीतिरिवाज, पर्व, परंपरा, अतिथि सत्कार– ये सब जो कभी सहभागिता, सहयोग और सहिष्णुता के बीज होते थे, खत्म होते जा रहे हैं। अब ज्यादा समय घर से बाहर होटल और दफ्तर में बीतता है। परिवार-संस्कृति का स्थान होटल-संस्कृति ने ले लिया है। उदग्र मन और चंचल चित्त के युवा मर्यादाओं को भंग करने के लिए नित नए नुस्खे ढूँढ़ते रहते हैं।

बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है अपसंस्कृतियों का उदय। सामाजिक सरोकारों से कटा, व्यक्ति-केंद्रित भोगवादी जीवन दृष्टि वाला नवसुखवाद हावी होता जा रहा है। यह 'प्ले ब्वाय' और 'पेंटहाउस' की संस्कृति है, जो शरीर के अनिर्बंध प्रदर्शन में सौंदर्य की खोज करती है। मनोरंजन और मौजमस्ती के नाम पर यौन विकृतियाँ और अप्राकृतिक यौनाचार पनप रहा है। पारदर्शी टायलेट में स्त्री को मल-मूत्र त्याग करते हुए देखने के लिए और चॉकलेट में लिपटी नग्न लड़की को चाटने के लिए लोग सैकड़ों डॉलर खर्च कर डालते हैं। विशेष रूप से यूरोप, अमेरिका और जापान में मुक्त यौनाचार और कामुक चिंतन इतनी तीव्रता और उग्रता से बढ़ रहा है कि आधुनिक समाज की नींव ही डगमगाने लगी है। अमेरिकी गुड़िया बॉर्बी डॉल की पश्चिमी तहजीब भारत पर भी हावी होती जा रही है। इलाहाबाद की 'फैंटेसी' मैगजीन ने एक 16 साल की लड़की की छह नग्न तस्वीरें इसलिए छापी ताकि, पत्रिका अधिक बिक सके। आश्चर्य तो इस बात पर है कि ऐसा महिलाओं की स्वतंत्रता के नाम पर किया जा रहा है– ऐसे कुत्सित माध्यमों से वे 'फ्री' (Free) 'सक्सेसफुल' (Successful) और 'वूमेन ऑफ सबस्टेंस' (Women of Substanse) के नाम से महिलाओं की एक विशिष्ट छवि पेश करने में लगे हैं।

अब इस बात पर विश्व भर के सभी चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विशेषज्ञ सहमत हैं कि हमारी शारीरिक (आधि), मानसिक (व्याधि) और भावनात्मक (उपाधि) बीमारियों का मुख्य कारण हमारे दोषपूर्ण आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, नित्य कर्म शौच, स्नान आदि करने और कार्य करने के तौर-तरीकों में निहित है। चिकित्सा विज्ञान के विभिन्न निदानों ने यह सिद्ध किया है कि सिरदर्द से लेकर कैंसर तक और पीठदर्द से लेकर हृदयाघात तक सभी बीमारियों की जड़ में हमारी दोषपूर्ण जीवनशैली, दृष्टिकोण एवं भावनाएँ ही हैं।

धारणक्षम मंगलजीवन शैली– मुख्य दिशा सूत्र

विकास के वर्तमान संकटों व समस्याओं का मूल कारण है दोषपूर्ण एवं दिग्भ्रमित जीवन शैली व उपभोग शैली।

क्या हम वर्तमान भोगवादी जीवन शैली को अपनाए रखते हुए वर्तमान संकटों से बाहर आ सकते हैं? पिछली शताब्दी के अनुभवों का उत्तर है 'नहीं, बिल्कुल नहीं।' तब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या हो वैकल्पिक जीवन शैली? इस विकल्प को लाने के लिए क्या करना पड़ेगा और इसकी दिशा व दिशा-सूत्र क्या होंगे? आम आदमी के जीवन में क्या और कैसे बदलाव लाएँ– इनकी आचार संहिता और कर्म संहिता क्या हो? वर्तमान जीवनशैली के तीन मुख्य दोष हैं; आहार दोष, विहार दोष और आचार दोष। इस त्रिदोषी जीवन शैली में क्या और कैसे बदलाव लाएँ? इस दृष्टि से आहार शुद्धि, विहार शुद्धि और आचार शुद्धि लानी होगी। पर प्रश्न यह है कि इसके दिशा-सूत्र एवं आधार-सूत्र क्या होंगे? इन सब प्रश्नों का उत्तर खोजने में हिंदू मनीषियों द्वारा बताए गए मार्ग एवं हमारे शास्त्रों में वर्णित आहार, विहार और आचार के नियम एवं तौर-तरीके काफी उपयोगी साबित हो सकते हैं। हिंदू चिंतन, हिंदू परंपरा एवं हिंदू जीवन पद्धति में शुद्ध, सात्त्विक जीवन शैली पर काफी जोर दिया गया है और इस संबंध में बहुत गहन, गंभीर एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। आज के संदर्भ में हिंदू जीवन शैली के इन सूत्रों का समुचित मूल्यांकन किए जाने की आवश्यकता है।

जीवन जीने की कला का पहला ककहरा है सही आहार। क्या खाएँ, कितना खाएँ, कब खाएँ, कैसे खाएँ, कैसे पकाएँ और खाने-खिलाने के समय मन की स्थिति कैसी रहे? इन सबके बारे में हमारे मनीषियों ने बहुत विस्तृत विवेचन किया है। सही, सात्त्विक, संस्कारवर्द्धक आहार के लिए तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र बताए गए हैं–

1. **मित भुक्** (मित आहार)–अर्थात् भूख से कम खाना।

2. **हित भुक्** (हित आहार)–भोजन केवल प्रियकर ही नहीं, हितकर भी होना चाहिए। भोजन की किस्म एवं मात्रा का निर्धारण करते समय षट् रस संतुलन, सुमेल एवं बेमेल भोज्य पदार्थों, ऋतु परिवर्तन, काल, उपभोक्ता की आयु, स्वर, काम-धंधा आदि को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

3. **ऋत भुक्** (ऋत आहार)–न्यायोपार्जित आहार हो। अधर्म का अन्न खाना पतनकारी माना और सदाचारी उपभोग पर जोर दिया।

गीता में भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के आहारों एवं उनके शरीर व मन पर पड़ने वाले प्रभावों का विस्तार से वर्णन किया गया है। स्वस्थ रहने के लिए पोषक आहार तो चाहिए ही, पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य के खाने व पकाने की शैली क्या हो? आहार तैयार करने के बारे में भी गृहणियों का प्रशिक्षण होना चाहिए। हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि भोजन को भगवान का प्रसाद मानकर प्रसन्नचित्त होकर ग्रहण करना चाहिए। चरक ने कहा है--
'प्रसन्नमना भुञ्जीत'।

हमारे चारों ओर उपभोक्ता वस्तुओं का अंबार होते हुए भी हम पहले की ही तरह अथवा उससे भी अधिक असंतुष्ट हैं, अतृप्त हैं। भौतिक सुख की आकांक्षा में हमने पृथ्वी के पर्यावरण को नष्ट कर डाला, किंतु फिर भी हमारी असंतुष्टि समाप्त नहीं हुई। अतः अति-उपभोग की समस्या का समाधान अधिक मात्रा में उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में निहित नहीं है, वरन् उपभोग की इच्छाओं को नियंत्रित करने में है।

साथ ही भोजन कराने वाला शुद्ध आचार-विचार वाला हो और भोजन कराते समय उसके मन में प्रेम, स्नेह व आत्मीयता का भाव रहे। वर्तमान समय में जब अधिक अप्राकृतिक, अखाद्य एवं गरिष्ठ वस्तुओं का प्रयोग बढ़ गया है और श्रम कम होने लगा है, उपवास का महत्त्व और अधिक बढ़ गया है। हिंदू चिंतन में इस बात पर भी हमेशा जोर दिया गया है कि व्यक्ति को अकेला न खाकर मिल-बाँटकर खाना चाहिए। उपभोग में बहुत अधिक असमानता को अच्छा नहीं माना गया है। 'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः' (अथर्व.), 'ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु', 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋग्वेद), ' एकः स्वादु न भुञ्जीत' आदि के द्वारा समान एवं सह-उपभोग की बात कही गई। हमारे शास्त्रों में एक गृहस्थ के लिए 'अमृत' (यज्ञ-शेष) और 'विघास' (भुक्तशेष) भोजन को ही अच्छा बताया गया है।

पश्चिमी दार्शनिक परंपरा यांत्रिक विश्वदृष्टि एवं भौतिकवादी व भोगवादी जीवन पद्धति को स्वीकार करती है, जबकि हिंदू चिंतन में सावयवी, समग्र, एकात्म एवं अध्यात्मवादी विश्वदृष्टि और त्यागमयी जीवन को अपनाया गया है।

चिकित्साशास्त्री इटरिट का मानना है कि लगभग 95 प्रतिशत रोग आहार की अनियमितता एवं असंयम के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः संतुलित, सात्त्विक, सुपाच्य एवं सीमित मात्रा में लिया गया आहार स्वस्थ जीवन के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इसलिए हिंदू मनीषियों ने आहार शुद्धि को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। कहा है–

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिर्लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।

7.26.2—छांदोग्य उपनिषद्

आज प्रश्न यह है कि संपन्न लोग आज की भाषा में पोषणयुक्त (प्रोटीन व विटामिन वाला) भोजन करते हैं, फिर भी उनकी स्थिति पोषणयुक्त भोजन करने की सामर्थ्य न रखने वाले गरीब लोगों से भी गई-गुजरी क्यों है? मेडिकल साइंस के अनेक शोध संस्थान इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में लगे हैं। इस उत्तर की तलाश में हिंदू मनीषियों द्वारा आहार के संबंध में बताए गए नियम-विधान काफी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। डॉ. एच.एल. एंडरसन ने अपनी एक पुस्तक 'मानवोचित आहार' में स्पष्ट रूप से कहा है– 'खान-पान एवं स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिए पश्चिमी लोगों को हिंदू ग्रंथों का पर्यवेक्षण करना चाहिए।'

हमारे पहनावे, रहन-सहन, निवास, श्रम-परिश्रम, कार्य के तौर तरीकों का भी जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इन सब में भी समुचित बदलाव लाए जाने की आवश्यकता है। वस्त्र यथासंभव कम और हल्के होने चाहिए, जिससे बदन को वायु और प्रकाश मिलता रहे। तंग और कसे हुए वस्त्र पहनने से त्वचा का मैल बाहर निकलने में बाधा उत्पन्न होती है तथा रक्तसंचार में विकृति आती है। लाड़-प्यार, दिखावे, फैशन व प्रतिष्ठा के नाम पर तरह-तरह के डिजाइनदार वस्त्रों का रिवाज चल पड़ा है, जो न केवल स्वास्थ्य के लिए नुकसानप्रद हैं, बल्कि आचार-विचार को भी दूषित करता है। यौन उन्माद भड़काने वाले तंग व छोटे वस्त्र, जिनसे अंग प्रदर्शन होता है, ऐसे लिबास से बचे रहें और स्वच्छ व सादगी भरे लिबास अपनाएँ। अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन के डॉ. लिंडा एलेन ने बताया है कि शरीर को छूती तंग पोशाकें पहनने के कारण युवक-युवतियों के शरीर में

लाल त्वचा, पपड़ीदार त्वचा, विंटर इच तथा खुजली जैसे त्वचा रोग तेजी से बढ़ रहे हैं। आजकल यूनीसेक्स फैशन (समयौन फैशन) अर्थात् जिन कपड़ों के पहनने से युवक व युवती में अंतर करना कठिन हो रहा है। वेशभूषा का चयन देश की जलवायु, राष्ट्रीयता, संस्कृति, कार्य की सुविधा, आर्थिक सामर्थ्य एवं सामाजिकता को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

आजकल मकान के कमरों को चारों ओर से बंद रखकर, सजावट के नाम पर परदे टाँगकर बिजली की कृत्रिम रोशनी और एअरकंडीशनर से युक्त मकान में रहने को प्रगतिशील जीवनशैली माना जा रहा है। ऐसे मकानों में रहने से ऊर्जा का संकट तो बढ़ता ही है, पर साथ ही शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य में भी कई प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः निवास की जगह और मकान बनाते समय स्वच्छता, प्रकाश व वायु के प्रवेश की दृष्टि से खुलापन, सुंदर परिवेश, वास्तुशास्त्र, आसपास पेड़-पौधे और उत्तम प्राकृतिक पर्यावरण आदि को ध्यान में रखा जाना चाहिए। हिंदू परंपरा में सूर्य और पवन को सब बीमारियों का नाश करने वाला सर्वोत्तम चिकित्सक कहा गया है, इसीलिए इन्हें देवता माना है। हनुमान जी को पवनसुत और भीम को वायुपुत्र बताया गया है तथा हमारे ऋषिगण स्वच्छ वायु के कारण ही वन्य प्रदेशों में निवास करते थे।

शरीर को सक्रिय, स्फूर्तिवान, मन को प्रफुल्लित और एकाग्र बनाए रखने के लिए समुचित परिश्रम आवश्यक है। श्रम में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के श्रम का संतुलन आवश्यक है। श्रम से जी चुराने वाले थुलथुले, मोटे, मधुमेह, रक्तचाप तथा पाचन संबंधी अनेक रोगों के जल्दी शिकार बनते हैं। अतः जिनकी कार्यपद्धति में शारीरिक श्रम की न्यूनता है, वे अपनी कार्यशैली में समुचित परिवर्तन लाएँ। व्यायाम करें, सबेरे की सैर, घर पर ही व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास करें। इसके अलावा जीवन के संबंध में सम्यक् व संतुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए तनाव मुक्ति के उपायों को अपनाया जाना चाहिए। समुचित जीवन शैली के निर्माण में योग्य दिनचर्या का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उचित समय पर की गई क्रिया अधिक फलदायी होती है। इस दृष्टि से भगवान महावीर का यह सूत्र मार्गदर्शक है– 'काले कालं समायरे' (जिस समय जो काम करने का है, वह काम उसी समय करो)। इसे सूतकृतांग में इस प्रकार समझाया गया हैं– 'अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, सयणं सयणकाले' अन्न के समय अन्न खाओ, पानी पीने के समय पानी पीओ और सोने के समय सोओ आदि)। हमारे लिए यह जानना-समझना आवश्यक और उपयोगी है कि कौन सी क्रिया किस समय करनी चाहिए और किस समय नहीं करनी चाहिए। हिंदू मनीषियों ने हर क्रिया के लिए समय निर्धारित किया है।

इसी में से हमारे यहाँ मुहूर्त परंपरा, दिनचर्या एवं कालचर्या विकसित हुई है। हम कम से कम सोने-जागने, खाना खाने और पानी पीने के लिए समय अवश्य निर्धारित करें। भारतीय समयविज्ञों ने जागने का समय ब्रह्ममुहूर्त (प्रातःकाल लगभग चार बजे) निर्धारित किया है। इस समय मन को शांति व प्रसन्नता देने वाले 'सेराटोनिन' नामक रसायन का स्राव होता है। इसके अलावा हम नित्य कर्म (मल-मूत्र व स्नान आदि) के समय व प्रकार को भी ठीक से समझें। साँस लेने की कला को ठीक से सीखें, समझें व प्रयोग में लाएँ। स्वस्थ जीवन के लिए अब मेडिकल साइंस के डॉक्टर भी व्यायाम, परिश्रम, सामाजिक सलीके के नाम पर भावनाओं के स्वाभाविक प्रगटीकरण को न रोकने, हँसने-हँसाने, प्रफुल्लित व प्रसन्नचित्त रहने,

खेलने आदि पर जोर देने लगे हैं।

हिंदू चिंतन में आचार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसलिए तो व्यास ने कहा था कि

'आचारो प्रथमो धर्मः'।

बौद्धमत में आचार को 'शील' कहा गया है और उसमें 'आर्यशील' अर्थात् श्रेष्ठशील पर जोर दिया गया है। सामान्य भाषा में आचार का अर्थ आचरण और व्यवहार है। हमारे शास्त्रों में सदैव ही सदाचार पर जोर रहा है। ''सदाचारेणैव नराणामार्यत्वम्।'' जो व्यक्ति जानकारी होने के बावजूद अच्छी बातों को आचरण में उतारता नहीं और बुरी बातों को छोड़ता नहीं, उसे आचरण भ्रष्ट अथवा अधर्मी बताया गया है। दुर्योधन ऐसा ही चरित्र था। इसीलिए तो वह कहता है–

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।'

–महाभारत

हमारी वर्तमान जीवन शैली काम और अर्थ से अधिक प्रभावित है। धर्म और कर्म उपेक्षित हो रहे हैं। उसी का परिणाम है स्वार्थ का एकच्छत्र साम्राज्य। अतः हमारी आचरण शैली धर्माधिष्ठित होनी चाहिए। एक सम्यक्, संतुलित, नैतिक आचरण शैली का विकास करने के लिए काम वृत्ति को उचित रूप से समझना नितांत आवश्यक है। कामवृत्ति का अविवेकपूर्ण गोपन अवांछनीय है, क्योंकि इससे काम के प्रति विकृत दृष्टिकोण पनपता है। दूसरी ओर वर्जनाहीन मुक्त यौनाचार भी अनेक समस्याओं को जन्म देता है। अतः इन दोनों के बीच संतोषप्रद मध्यम मार्ग निकालना दुष्कर होते हुए भी आवश्यक है। काम विषयक संतुलित व्यवहार के विकास में ही मानव की गरिमा निहित है। इस दृष्टि से हिंदू चिंतन और आचार शास्त्र के नियमों में काफी महत्त्वपूर्ण दिशा सूत्र मिल सकते हैं। हिंदू चिंतकों का मानना है कि यदि मानव के यौन संबंध प्रेम और गरिमा से शून्य हों तथा मात्र पाशविक वासना की तृप्ति बनकर ही रह जाएँ तो वे आध्यात्मिक पतन के कारण ही होंगे। अतः काम संबंधी नियम एवं मर्यादाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि यौनभाव मानव प्रकृति के पाशव पक्ष का गंभीरतम पक्ष है। मानव की अन्य पाशव क्रियाएँ केवल एक व्यक्ति को प्रभावित करती हैं, किंतु यौन संबंध कम से कम दो व्यक्तियों और संतानोत्पत्ति होने पर अनेक व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं। यौन संबंधों के समुचित नियमन से ही यह संभव है कि प्रकृति-प्रदत्त यौन आवेग को संतृप्ति को प्रेम का अवलंब मिले और वह प्रेम के माध्यम से गौरवांवित और सौंदर्यांवित हो। यह एक अत्यंत महत्त्व की बात है कि हिंदू परंपरा में काम को देवता मानकर 'कामदेव' की कल्पना की गई है।

हिंदू आचार पद्धति में संयम को बहुत महत्त्व दिया गया है। कहा भी है– 'संयमः खलु जीवनम्'। भगवान महावीर द्वारा बताए गए अनेक संयमों में स्वास्थ्य की दृष्टि से छह संयम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं– आहार का संयम, शरीर का संयम, इंद्रियों का संयम, श्वास का संयम, भाषा का संयम और मन का संयम। पतंजलि के अनुसार संयम का अर्थ है; धारणा, ध्यान और समाधि। हिंदू मनीषियों ने योगमूलक जीवन के लिए यम-नियमों का पालन

हमें एक ऐसी जीवन शैली के विकास पर ध्यान देने की आवश्यकता है, जो पर्यावरणपोषक हो, गरीबों की हितसंवर्धक हो, जिससे सहभागिता पनपे, मानवीय क्षमताओं का विस्तार हो, सामाजिक जिम्मेवारी आए, जो वर्तमान पीढ़ी का ही नहीं वरन् भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं की भी चिंता करे और जो सृजनशील व्यक्तियों एवं समुदायों को प्रोत्साहित करे।

आवश्यक माना है। रोग का एक प्रमुख कारण है इंद्रियों की उत्तेजना अथवा अतिभोग। अतः इंद्रिय संयम और संयम प्रधान जीवन शैली स्वास्थ्य का मूलमंत्र है। उठना, बैठना, खड़ा होना, चलना-फिरना, सोना, जागना, श्वास लेना आदि ये सारी छोटी क्रियाएँ हैं, किंतु इनमें जितनी अधिक जागरूकता और संयम होगा, उतनी ही ये क्रियाएँ हमारी जीवन शैली को निखारेंगी और तब जीवन प्रसन्नता से भरा होगा।

हमारे चारों ओर उपभोक्ता वस्तुओं का अंबार होते हुए भी हम पहले की ही तरह अथवा उससे भी अधिक असंतुष्ट हैं, अतृप्त हैं। भौतिक सुख की आकांक्षा में हमने पृथ्वी के पर्यावरण को नष्ट कर डाला, किंतु फिर भी हमारी असंतुष्टि समाप्त नहीं हुई। अतः अति-उपभोग की समस्या का समाधान अधिक मात्रा में उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में निहित नहीं है, वरन् उपभोग की इच्छाओं को नियंत्रित करने में है। जब उपभोग की वृद्धि दर संसाधनों के पुनरुत्पादन की दर से कम होगी, तभी उपभोगशैली धारणक्षम बन सकेगी। भारत के प्राचीन हिंदू शास्त्र उपभोग एवं इच्छाओं को नियंत्रित करने की शिक्षाओं से भरे पड़े हैं। हमने अपने मन पर संस्कारों के माध्यम से संयमित उपभोग को व्यवहार में उतारा भी था। हमारे मनीषियों ने प्रेय के स्थान पर श्रेय को और भव्य के स्थान पर दिव्य को महत्त्व देने पर जोर दिया था। जीवन में इस दृष्टिकोण के आ जाने के बाद व्यक्ति स्वयं ही भोग-लिप्सा एवं उपभोक्तावाद से मुक्त होकर एक सीधी-सादी सात्त्विक जीवनशैली को अपनाने लगता है। भारतीय चिंतन के अनुसार संयम और सीमाकरण ऐसे दो आधारभूत सूत्र हैं, जिनके आधार पर आज के संदर्भ में एक व्यावहारिक जीवनशैली व उपयोगशैली निर्धारित की जानी चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर तलाशना होगा कि सीमित, संयमित उपभोग का अर्थ क्या है? सीमित की सीमा कौन और कैसे तय करें? इसकी कसौटियाँ क्या हैं? आवश्यकताओं की सीमा और संयम कौन-सी मानसिक अवस्था के बाद आएगा? ऐसी मानसिक अवस्था कैसे तैयार हो? ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर तलाशने का काम आज की मनीषा को करना होगा। इन प्रश्नों के उत्तर में से ही एक युगानुरूप सही, संतुलित एवं धारणक्षम उपभोग एवं जीवनशैली का उद्भव हो सकेगा।

पश्चिमी दार्शनिक परंपरा यांत्रिक विश्वदृष्टि एवं भौतिकवादी व भोगवादी जीवन पद्धति को स्वीकार करती है, जबकि हिंदू चिंतन में सावयवी, समग्र, एकात्म एवं अध्यात्मवादी विश्वदृष्टि और त्यागमयी जीवन को अपनाया गया है। हमारे मनीषियों ने प्रकृति को माता और देव मानकर आराधना की है। अतः हमारी जीवन-शैली में प्रकृति का शोषण नहीं, दोहन है, जो सबका पोषण करता है। समूची प्रकृति, सृष्टि-समष्टि के प्रति मातृभाव, भ्रातृभाव और एकात्मभाव के कारण हमने साधन-सामग्री को प्रत्येक के साथ बाँटकर उपभोग करने को प्राथमिकता दी है। 'ईशोपनिषद्' में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा', गीता में 'यज्ञ

चक्र', 'सुहृदः सर्वभूतानाम्' और, सर्वभूतहिते रताः' के माध्यम से इसी बात को समझाया गया है। हिंदू चिंतन में उपभोग को नकारा नहीं गया है; केवल इतना कहा गया है कि हमारा भोग, उपभोग धर्मयुक्त रहे, धर्मविरुद्ध नहीं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि– 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षम' (मैं धर्म-विरुद्ध काम हूँ)। हिंदू दर्शन कोरे सिद्धांत का विषय नहीं, बल्कि जीवन का प्रत्यक्ष व्यवहार रहा है। हमने दर्शन को जीया है और जीने के तौर-तरीके विकसित किए हैं। हमारे मनीषियों ने धर्म को समझते हुए अनेक करणीय, अकरणीय व्यवहारों की विस्तार से चर्चा की है और उन्हीं के आधार पर पर्व, परंपराएँ आदि विकसित हुए हैं। जो पर्यावरण की रक्षा करने में काफी सहायक सिद्ध हुए हैं। इसीलिए हिंदू पद्धति पर्यावरण-प्रेमी एवं धारणक्षम जीवनशैली को जन्म दे सकती है।

अब नवीनतम खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि शरीर पर वास्तविक नियंत्रण मन का है। मन-मस्तिष्क के गड़बड़ाने से ही शारीरिक रोग होते हैं और मानसिक विकार भी बढ़ जाते हैं। वासना, तृष्णा, अहंता-लोभ, मोह, अहंकार के कुविचार मनुष्य को संकीर्ण और स्वार्थी बना देते हैं। शत्रुता, ईर्ष्या, कुढ़न, भय व आशंका के कारण कई प्रकार के रक्तविकार हो जाते हैं। अनिद्रा का प्रधान कारण चिंतातुर या भयग्रस्त रहना होता है। कुढ़ने वाले व्यक्ति को दस्त, पेट फूलना, डकारें आना आदि बीमारियाँ विशेष रूप से हो जाती हैं। बदला लेने, नीचा दिखाने की मनःस्थिति वाले व्यक्ति को सिरदर्द घेर लेता है। हँसते-मुसकराते रहने, निश्चित निर्णय और संतुष्ट रहने का स्वभाव न केवल मनुष्य को सुंदर, चरित्रवान, सद्गुणी एवं साहसी बनाता है, वरन् शरीर के भीतरी क्रियाकलापों को भी ऐसा बनाए रखता है जिस पर बीमारियों का असर न पड़े। इस प्रकार सद्संस्कारों के माध्यम से मन के विकारों को दूर करते हुए सदाचरण के मानदंडों पर चलकर ही धारणक्षम जीवनशैली को जीया जा सकता है।

इतना तो निश्चित है कि वर्तमान विकास प्रक्रिया में से उपजे संकटों व समस्याओं से यदि हमें बचना है तो सामाजिक आचरण के मानदंडों एवं जीवन-मूल्यों में सम्यक् परिवर्तन के माध्यम से हमें सीमित, संयमित, सदाचारी एवं मितव्ययी जीवनशैली एवं उपभोग शैली को विकसित करने की ओर ध्यान देना होगा। हमें एक ऐसी जीवन शैली के विकास पर ध्यान देने की आवश्यकता है, जो पर्यावरणपोषक हो, गरीबों की हितसंवर्धक हो, जिससे सहभागिता पनपे, मानवीय क्षमताओं का विस्तार हो, सामाजिक जिम्मेवारी आए, जो वर्तमान पीढ़ी का ही नहीं वरन् भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं की भी चिंता करे और जो सृजनशील व्यक्तियों एवं समुदायों को प्रोत्साहित करे। भारत के संदर्भ में हमें विशेष रूप से यह ध्यान रखना है कि हमें अपने उपभोग में वृद्धि तो अवश्य करनी है, किंतु विश्व के अमीर देशों के लोगों की उपभोग शैली की नकल करने की कतई आवश्यकता नहीं है। इस उपभोग शैली-जीवन शैली में इस बात की चिंता

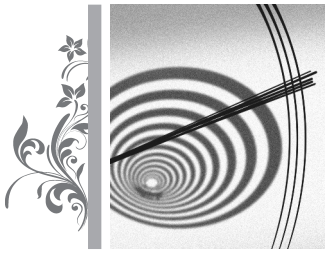

हिंदू दर्शन कोरा सिद्धांत का विषय नहीं, बल्कि जीवन का प्रत्यक्ष व्यवहार रहा है। हमने दर्शन को जीया है और जीने के तौर-तरीके विकसित किए हैं। हमारे मनीषियों ने धर्म को समझते हुए अनेक करणीय, अकरणीय व्यवहारों की विस्तार से चर्चा की है।

अवश्य की जानी चाहिए कि देश के सभी लोगों की भोजन, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य से संबंधित आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तुएँ व सेवाएँ उपलब्ध हो सकें। इस काम को अंजाम देने की दृष्टि से गरीब लोगों के काम आने वाली उपभोक्ता वस्तुओं, कम लागत वाली मकान निर्माण सामग्री, ऊर्जा बचाने वाले उपकरणों आदि के उत्पादन तथा खाद्यान्न की सस्ती व सुरक्षित भंडारण प्रणाली के विकास पर तुरंत ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। जैविक खेती, रसायनों से मुक्त खाद्य पदार्थ एवं हर्बल आधारित विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन एवं उपभोग पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। उपभोक्ताओं को विशेषतः खाद्य व पेय पदार्थों, दवाओं, स्वास्थ्य सेवाओं, घरेलू साज- सामानों, यातायात सुरक्षा आदि के बारे में सही व स्पष्ट जानकारियाँ भी मिलनी चाहिएँ। वस्तुओं के बहुविध प्रयोग, कम खर्च व कम साधनों से काम करने की शैली को अपनाना होगा। स्वास्थ्य के सामान्य नियमों, आहार-विहार पर संयम, जड़ी-बूटियों, योग, आसन, प्राणायाम, आयुर्वेद, घरेलू उपचार आदि का प्रयोग, सामाजिक एवं दैनंदिन के क्रियाकलापों में परिवार की कम होती जा रही भूमिका को पुनः प्रतिष्ठित करने जैसे उपायों से भी सहज-सरल एवं सादा जीवन शैली के विकास में मदद मिलेगी। उपयुक्त कसौटी के आधार पर खान-पान, वेशभूषा, साज-सज्जा, भवन निर्माण, जल एवं बिजली और ऊर्जा के अन्य साधनों का प्रयोग, शादी-विवाह, तीज-त्योहार, मंगल-प्रसंगों, उत्सवों आदि में समयानुकूल समुचित बदलाव लाने का प्रयास करना होगा। जीवन के विविध क्षेत्रों के लिए मानक रीति-रिवाजों एवं परंपराओं का विकास कर, उनको सामाजिक जीवन में व्यापक प्रचार-प्रसार कर मान्यता दिलानी होगी। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. श्यामचरण दुबे ने वैकल्पिक जीवनशैली की अपनी कल्पना को इन शब्दों में व्यक्त किया है– 'वर्तमान जीवन शैली व्यक्तिगत मौजमस्ती, संतुष्टि और निजी उपभोग की ओर झुकी हुई है– इसे बदलना होगा। नए परिवेश में समाज की समृद्धि करने में, चाहे अपनी इच्छा पूर्ति को रोकना ही क्यों न पड़े, आनंद की अनुभूति होगी और तृप्ति मिलेगी। सफलता का पैमाना–व्यक्ति अपने लिए या अपने परिवार के लिए क्या कर सका है, के बदले समाज के लिए क्या कर सका है– यह होगा। व्यक्ति की सफलता का मूल्यांकन उसकी सामाजिक प्रासंगिकता और समाज कल्याण में योगदान से होगा और औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करने वाले व्यक्तिगत उपभोग को हेय दृष्टि से देखा जाएगा।' उपभोग एवं उत्पादन के स्वरूप में समुचित दिशा में परिवर्तन लाने के लिए हमें भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप उपयुक्त तकनोलॉजी के विकास एवं प्रयोग पर भी ध्यान देना होगा। यह एक ऐसी तकनोलॉजी होनी चाहिए, जो प्रति इकाई उत्पादन पर अधिकतम रोजगार दे सके, पूँजी के प्रयोग, उत्पादन लागत एवं ऊर्जा के इंपुट को न्यूनतम कर सके तथा पर्यावरण को शुद्ध व स्वच्छ बनाए रखकर प्रदूषण को घटा सके। कुल मिलाकर सीमित-संयमित शुद्ध-सात्त्विक धारणक्षम उपभोग व जीवनशैली के विकास पर समुचित ध्यान देकर ही हम विकास की वर्तमान विसंगतियों को दूर कर सार्वजनीन लोकमंगल का मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे।

लेखक प्रख्यात अर्थशास्त्री और चिंतक हैं।

अगर आत्मभाव की जड़ें इतनी गहरी नहीं हैं कि हम पूरी सृष्टि में किसी मूलभूत एकता को देख सकें और समूची सृष्टि से वैसा ही आत्मभाव पैदा कर सकें तो सांसारिक प्रतिस्पर्धा में अपने आत्मीयों का यह दायरा जल्दी ही सिकुड़ जाता है। हमें अपने के साथ-साथ पराये की भी उतनी ही तीव्र प्रतीति होने लगती है और अकसर संसार की विभिन्न जातियाँ जितनी प्रियता अपनों के प्रति दिखाती रही हैं, उतना ही तिरस्कार परायों के प्रति उनमें जगता रहा है।

बनवारी

आत्मवान् पूर्व, आत्महीन पश्चिम

संसार के सभी मनुष्य अपने रक्त संबंधों के प्रति आत्मभाव दिखाते रहे हैं। इन संबंधों का विस्तार परिवार से कुटुंब और कुटुंब से कुल में होता रहा है। रक्त संबंधों के साथ-साथ भौगोलिक निकटता भी सामान्यतः वैसा ही भाव पैदा करती है। हम अपने गाँव, जनपद, अंचल या देश के प्रति भी ऐसी ही आत्मीयता अनुभव करते हैं। लेकिन इस स्वभावजन्य आत्मभाव की सीमा है। अगर इस आत्मभाव की जड़ें इतनी गहरी नहीं हैं कि हम पूरी सृष्टि में किसी मूलभूत एकता को देख सकें और समूची सृष्टि से वैसा ही आत्मभाव पैदा कर सकें तो सांसारिक प्रतिस्पर्धा में अपने आत्मीयों का यह दायरा जल्दी ही सिकुड़ जाता है। हमें अपने के साथ-साथ पराये की भी उतनी ही तीव्र प्रतीति होने लगती है और अकसर संसार की विभिन्न जातियाँ जितनी प्रियता अपनों के प्रति दिखाती रही हैं, उतना ही तिरस्कार परायों के प्रति उनमें जगता रहा है। संसार का इतिहास विभिन्न कुटुंबों, कबीलों, जातियों और देशों के बीच हिंसक संघर्ष से भरा हुआ है।

विभिन्न धर्म-संप्रदायों के उदय ने संबंधों को एक और नया आधार दिया। भारत से पश्चिम जितने भी धर्म-संप्रदाय खड़े हुए, उन्होंने अपने संप्रदाय को मानने वालों में एकता का भाव जगाने का प्रयत्न किया। यहूदी तो अपने कुलों के दायरे में बँधे रहे, पर ईसाई और इसलाम पंथ ने दूसरी जातियों और क्षेत्रों तक अपना विस्तार करने का प्रयत्न किया, लेकिन इन दोनों ही पंथों ने नए सिरे से अपने और पराये की भी गहरी रेखा खींच दी और यह रेखा पहले की रेखाओं से भी विभाजक सिद्ध हुई। इन दोनों ही पंथों ने आपस में और दूसरी धर्मावलंबियों से ही हिंसक संघर्ष नहीं किए, बल्कि उनके अपने भीतर के उप-पंथों में भी वैसी ही हिंसक प्रतिस्पर्धा जन्म लेती रही। ये दोनों पंथ अब अनेक उप-पंथों में

विभाजित होते रहे हैं और उन सभी में वर्चस्व के लिए भयंकर प्रतिस्पर्धा होती रही है। हम कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट या शिया और सुन्नियों के बीच के रक्तरंजित इतिहास को याद करें तो वह हमारे रोंगटे खड़े करने के लिए पर्याप्त है।

भारत के पश्चिम में बसी जातियों की यह हिंसक प्रवृत्ति भारत ही नहीं, भारत के पूर्व में बसे किसी भी समाज में दिखाई नहीं देती। भारत और उसके पूर्व में बसे अन्य सभी समाजों के अनुभव एक जैसे नहीं हैं। अपनों का एक विशेष दायरा बनाकर उसे दूसरों से अलग दिखाने और अपनी अलग संस्कृति एवं सभ्यता खड़ी करने की प्रवृत्ति इन सभी समाजों में भी रही है, लेकिन इन समाजों ने दूसरों को पराया नहीं बनाया और उनके प्रति कभी वैसी असहिष्णुता नहीं पनपने दी, जैसी भारत के पश्चिम में बसी सभी जातियों में दिखाई देती है। सांसारिक प्रतिस्पर्धा सभी जगह रहती है और वह कहीं स्वस्थ स्पर्धा का रूप लेती है, कहीं परस्पर संघर्ष का, लेकिन भारत और उसके पूर्व बसे समाजों ने अपने और पराये का भेद करके पराये को नष्ट करने का संकल्प साधे रहने जैसी क्रूरता और बर्बरता अपने यहाँ कभी पैदा नहीं होने दी।

यह साधारण बात नहीं है कि भारत से निकलकर बौद्ध धर्म चीन, जापान, दक्षिण एशिया जैसे विशाल क्षेत्र में फैलकर आज भी इन सभी समाजों की श्रद्धा का केंद्र बना हुआ है, लेकिन बौद्ध धर्म और चीन के ताओ या जापान के शिंटो पंथों में कभी हिंसक प्रतिस्पर्धा पैदा नहीं हुई। चीन के सभी पवित्र पर्वतों पर बौद्ध और ताओ मंदिर एक-दूसरे के आमने-सामने स्थापित हुए। जापान में हर बौद्ध मंदिर में एक छोटा मंदिर शिंटो संप्रदाय का देखा जा सकता है और हर शिंटो मंदिर में एक स्थान भगवान बुद्ध की पूजा-अर्चना के लिए नियत होता है। भारत और उसके पूर्व के इन सभी समाजों में साहचर्य की जो भावना पनपी, उसका कारण उनकी यह मूल दृष्टि ही है कि समूची सृष्टि देव शक्तियों द्वारा चालित है और इस समूची सृष्टि का संचालन नैतिक नियमों से होता है। इन नैतिक नियमों की प्रतीति हमें धर्म के रूप में हुई, यह धर्म ही हमें मनुष्यों ही नहीं, सृष्टि के सारे जड़-जंगम से भी संबद्ध करता है। हम अपने पहाड़ों, नदियों, वनस्पति, पशु-पक्षियों और मनुष्यों सभी से धर्म के नैतिक अनुशासन में बँधे हैं।

भारत में इस प्रतीति को शास्त्रीय स्वरूप दे दिया गया। भारतीय समाज अनादिकाल से जिस सनातन धर्म से परिचालित होता रहा है, उसके मूल में ही सृष्टि की एकता का भाव है। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था ''और अब में अंतिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि सारे उपनिषद् तथा हमारे सारे धर्मग्रंथ अचानक नष्ट हो जाएँ और यदि ईशोपनिषद् का केवल पहला श्लोक (मंत्र) हिंदुओं की स्मृति में कायम रहे तो भी हिंदू-धर्म सदा जीवित रहेगा।'' यह मंत्र हमारी विश्व दृष्टि का, हमारी सभ्यता का सार है। इसके अनुसार इस सृष्टि में जो कुछ भी है वह सब ईश से व्याप्त है। सृष्टि में जो कुछ भी

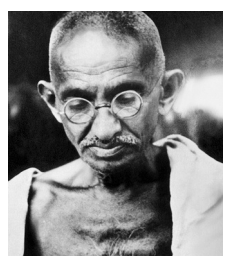

''और अब में अंतिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि सारे उपनिषद् तथा हमारे सारे धर्मग्रंथ अचानक नष्ट हो जाएँ और यदि ईशोपनिषद् का केवल पहला श्लोक (मंत्र) हिंदुओं की स्मृति में कायम रहे तो भी हिंदू-धर्म सदा जीवित रहेगा।'' *-महात्मा गांधी*

पश्चिमी सभ्यता की नकल पर हम जो व्यवस्थाएँ बना रहे हैं, वे हमारे सामाजिक संबंधों को नष्ट कर रही हैं। हमारी राजनीति व्यक्ति को एक अकेली इकाई के रूप में देखती है और परिवार, कुल, जाति, गाँव, क्षेत्र सबका निषेध करती है। हमारे सामाजिक जीवन में सदा जो सामूहिकता रही है, जो भाईचारा रहा है, उसे नष्ट करते हुए आज की डेमोक्रेटिक राजनीति सभी संबंधों में विष घोलती जा रही है।

उपलब्ध हो रहा है, उसमें सबका भाग है। अतः अन्य सबके भाग को छोड़कर ही अपना भाग ग्रहण करो। दूसरों के भाग की अपेक्षा करना चोरी है। इस मंत्र को, इस बोध को आत्मसात् करके ही भारत सनातन धर्म का वाहक हो पाया है। भारतीय अपने पुरुषार्थ को साधते हुए प्रतिस्पर्धा में पड़ते हैं। यह प्रतिस्पर्धा उन्हें संघर्ष की ओर भी ले जाती रही है, लेकिन किसी प्रतिस्पर्धा को, किसी संघर्ष को हमने धर्म की मर्यादा के बाहर नहीं रखा। सबके लिए एक ही नैतिक अनुशासन है, क्योंकि सभी के संबंधों का मूलभूत आधार यही है कि इस सृष्टि में जो कुछ भी है वह सब ईश से व्याप्त है।

भारत के पश्चिम में जो धर्म-संप्रदाय पनपे, जो विचार प्रणालियाँ विकसित हुईं, उनमें ईश्वर और सृष्टि को अलग-अलग करके देखा गया। उन्होंने ईश्वर की सार्वभौमिकता को तो स्वीकार किया, लेकिन उसी तरह जिस तरह किसी सम्राट् का अपने अधीन पूरे क्षेत्र पर अधिकार होता है। भारत के पश्चिम में बसी जातियों के लिए ईश्वर एक शक्ति-तंत्र की तरह है। ऐसा केवल ईसाई या इसलाम मत में ही नहीं है। यूनानी नगर राज्यों में जिन देवताओं की पूजा-अर्चना होती थी, वे भी ऐसे ही थे। क्षण में क्रुद्ध और क्षण में तुष्ट हो जाने वाले। दिव्य सत्ता को एक शक्ति तंत्र के रूप में देखने वाले लोग सनातन धर्म की प्रतीति नहीं कर सकते। यूनानी दृष्टि में तो शक्ति तंत्र खड़ा करना ही यूनानी जाति का अभिप्रेय रहा। इस यूनानी दृष्टि से ही आज का यूरोप पैदा हुआ है। ईसाई धर्म ने ईश्वर से संबंध जोड़ते हुए एक नैतिक अनुशासन निरूपित करने का प्रयत्न किया। पर ईसाई दृष्टि मूलभूत यूनानी दृष्टि के दायरे में ही फली-फूली।

अगर हम आज के यूरोप को समझना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें यूनानी जाति को और उसकी मूल दृष्टि को समझना पड़ेगा। यूनानी नगर राज्यों की तुलना अकसर भारत के प्राचीन गणराज्यों से की गई है, जबकि दोनों में कोई साम्य नहीं है। यूनानी नगरवासी मात्र एक राजनीतिक समूह है, जिनका मुख्य उद्देश्य एक शक्ति तंत्र खड़ा करना है। वे अधिकांशतः योद्धा हैं और उनके जीवन की सार्थकता अपने नगर राज्य की रक्षा तथा दूसरे नगर राज्यों पर विजय प्राप्त करना ही है। उनकी दो विशेषताएँ यहाँ उल्लेखनीय हैं। यूनानी नगर राज्यों में रक्त-संबंधों को हीन दृष्टि से देखा जाता था और परिवार ही नहीं, स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रति भी उनमें हेय भाव था। इन राज्यों में सम्मानित संबंध राजनीति तथा युद्ध की शिक्षा देने वाले का और पाने वाले का ही था। उन्हीं के बीच शरीर का भोग भी स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक संबंध से ऊँचा माना गया। यूनानी नगर राज्यों की दूसरी विशेषता उत्पादन और विभिन्न कौशलों में लगे सभी लोगों की दास-स्थिति है। यूनानी दृष्टि में खेती-बाड़ी और उद्योग-धंधों में लगे लोगों और स्त्रियों को मनुष्य से हीन समझा गया। मनुष्य वहाँ केवल राजनीति से संबद्ध लोग ही माने जाते थे।

यूरोप के मध्य काल में जो फ्यूडलिज्म विकसित हुआ और आधुनिक काल की डेमोक्रेटिक या कम्युनिस्ट व्यवस्थाएँ उन नगर राज्यों के संबंधों का ही रूपांतरण है। दोनों में शासक वर्ग की प्रधानता है। उत्पादन में लगे लोग मध्यकाल में 'सर्फ'(भू-दास) थे, जिनका काम अभिजात वर्ग के लिए उत्पादन करना था। कुल जनसंख्या में उनका अनुपात 85 प्रतिशत था। 13-14 प्रतिशत लोग अर्द्धस्वतंत्र किसान थे, जिन्हें सावधि पट्टे पर जमीन जोतने को दी जाती थी। एक-डेढ़ प्रतिशत अभिजात वर्ग अर्थात् शासक वर्ग के थे। आधुनिक काल में यूरोप के लोग अर्द्धस्वतंत्र किसानों जैसी स्थिति में आ गए हैं। उन्हें शासक वर्गों में से किसी एक प्रतिस्पर्धी समूह को चुनने का अधिकार भी मिल गया है, लेकिन वे उत्पादन तंत्र के स्वामी नहीं, पुर्जे भर हैं। यूरोप-अमेरिका में अधिकांश नागरिक किसी न किसी प्रतिष्ठा की नौकरी में हैं। यूरोपीय जाति मानती है कि शेष दुनिया उनके लिए 'सर्फ' जैसी है। आज वास्तव में पूरी दुनिया यूरोपीय जाति की संपन्नता बनाए रखने के लिए ही उत्पादन में लगी दिखाई देती है। विकास की सारी रणनीति पश्चिमी तंत्र का पोषण करने के लिए ही खड़ी की गई है।

पश्चिमी सभ्यता की नकल पर हम जो व्यवस्थाएँ बना रहे हैं, वे हमारे सामाजिक संबंधों को नष्ट कर रही हैं। हमारी राजनीति व्यक्ति को एक अकेली इकाई के रूप में देखती है और परिवार, कुल, जाति, गाँव, क्षेत्र सबका निषेध करती है। हमारे सामाजिक जीवन में सदा जो सामूहिकता रही है, जो भाईचारा रहा है, उसे नष्ट करते हुए आज की डेमोक्रेटिक राजनीति सभी संबंधों में विष घोलती जा रही है। चुनाव, जिन्हें आज राजनीतिक व्यवस्था की आदर्श प्रणाली बताया जा रहा है, प्रतिस्पर्धा को ऐसे संघर्ष में बदल रहे हैं, जहाँ उचित-अनुचित का, नैतिक-अनैतिक का, धर्म-अधर्म का विवेक नहीं बचा है। हमारे सभी राजनीतिक दल किसी रचनात्मक दृष्टि या कार्यक्रम के आधार पर नहीं बने। उनका एकमात्र उद्देश्य राज्यसत्ता हासिल करना है। इसने भारतीय समाज में इतनी तरह के संघर्ष और तनाव पैदा कर दिए हैं कि गरीब-अमीर कोई भी सुरक्षित और सुखी नहीं है।

इसी तरह हम जो अर्थतंत्र बना रहे हैं, उसने समाज के भीतर के आर्थिक संबंधों की पारस्परिक निर्भरता समाप्त कर दी है। अब हम एक-दूसरे के लिए नहीं, अज्ञात बाजार के लिए उत्पादन करते हैं। इसलिए वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाते जाना ही हमारा लक्ष्य है और उसके लिए अंधाधुंध मशीनीकरण हो रहा है। इससे न केवल बेरोजगारी बढ़ रही है, बल्कि परंपरागत कौशल भी समाप्त होते जा रहे हैं। आज की व्यवस्था में मुट्ठी भर विशेषज्ञ ही उत्पादन तंत्र के स्वरूप का निर्धारण करते हैं और बाकी सब लोग मशीनी पुर्जे की तरह उसमें नत्थी कर दिए जाते हैं। इस निर्मम तंत्र में किसी के आर्थिक जीवन की सुरक्षा नहीं है। कभी भी किसी को भी दूध में मक्खी की तरह निकाल बाहर किया जा सकता है। इसी तरह जो खेती हमने आरंभ की है, उससे न अपनी मिट्टी से हमारा कोई संबंध बचा है, न पानी से, न पशुओं से। नगरीय जीवन ने प्रकृति से हमारा साहचर्य समाप्त कर दिया है। विकास हमें सबसे काटकर अलग-थलग करता जा रहा है।

दिव्य सत्ता को एक शक्ति तंत्र के रूप में देखने वाले लोग सनातन धर्म की प्रतीति नहीं कर सकते। यूनानी दृष्टि में तो शक्ति तंत्र खड़ा करना ही यूनानी जाति का अभिप्रेय रहा। इस यूनानी दृष्टि से ही आज का यूरोप पैदा हुआ है।

18वीं शताब्दी में पश्चिमी शक्तियों के औपनिवेशिक साम्राज्य के उदय से पहले दुनिया में एक तरह का शक्तिसंतुलन बना हुआ था। क्षेत्रीय शक्तियाँ जब-तब उभरती रहती थीं, लेकिन फिर भी समूची जनसंख्या पर उनका वैसा नियंत्रण नहीं होता था, जैसा आज की सामरिक, राजनीतिक और आर्थिक सत्ताओं ने बना दिया है। आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का एकमात्र योगदान इन सभी सत्ताओं को निरंकुश बनाना है। भारत का एक बड़ा भाग वर्ष 1350 के आसपास तुर्क विजेताओं के आधिपत्य में चला गया था। फिर भी अपनी पंचायती प्रणालियों के कारण समाज के हाथ बहुत-सी पहल बची हुई थी। इंडोनेशिया, मलेशिया और ऑस्ट्रेलिया के क्षेत्र मुस्लिम और ईसाई प्रभाव में चले गए थे। फिर भी हम कह सकते हैं कि भारत और उसके पूर्व एक बहुत विशाल क्षेत्र में सामान्य जीवन-धर्म द्वारा अनुशासित था। लोगों के परस्पर संबंधों के कारण सब जगह एक समाज बना हुआ था और कई जगह बाहरी राजसत्ताओं के बावजूद समाज की पहल समाप्त नहीं हुई थी। लेकिन यूरोपीय जाति की विश्व विजय और राजनीतिक उपनिवेशों की समाप्ति के बाद भी उनके अर्थतंत्र और शिक्षातंत्र के विश्वव्यापी प्रभाव के कारण पूरी दुनिया पर आज भी उनका भौतिक और बौद्धिक नियंत्रण बना हुआ है। इससे सब जगह समाज की सामूहिकता और प्रकृति से हमारा संबंध नष्ट होता जा रहा है।

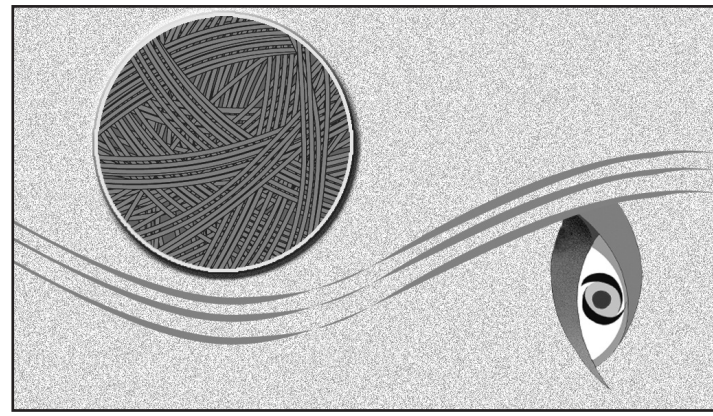

हमें आज के विश्व को समझने के लिए भूगोल की भी नए सिरे से प्रतीति करनी होगी। अब तक यूरोप और अमेरिकी महाद्वीप को पश्चिम कहने का चलन रहा है और एशिया को पूर्व। वास्तव में भारत से पश्चिम का एशिया और यूरोपीय जाति मिलती-जुलती अवधारणाओं वाले ही हैं। इसलिए हमें भारत से पश्चिम को पश्चिम और भारत तथा उससे पूर्व को पूर्व कहने का चलन बनाना चाहिए। भारत और उससे पूर्व हिंदू-बौद्ध-ताओ-शिंटो आदि धर्मानुशासनों को मानने वाले लगभग साढ़े तीन अरब लोग अपनी सभ्यता में लौट आएँ तो पश्चिमी शक्तियों को हम उनके क्षेत्र में सीमित रहने के लिए विवश कर सकते हैं। इसी तरह हम समाज की पहल लौटाकर धर्म सम्मत जीवन की ओर बढ़ सकते हैं। इसी तरह प्रकृति तथा पशु-पक्षियों से अपने संबंधों को फिर से दृढ करके हम विश्वव्यापी नैतिक नियम के अनुकूल जीवन शैली की ओर फिर से लौट सकते हैं और इस तरह भौतिक प्रदूषण की मार से बच सकते हैं। यह सब तभी संभव है, जब आत्मवान पूर्व आत्महीन पश्चिम से अपनी भिन्नता पहचान ले और अपने ऊपर पश्चिमी प्रभाव समाप्त कर दे।

लेखक चिंतक और वरिष्ठ पत्रकार हैं।

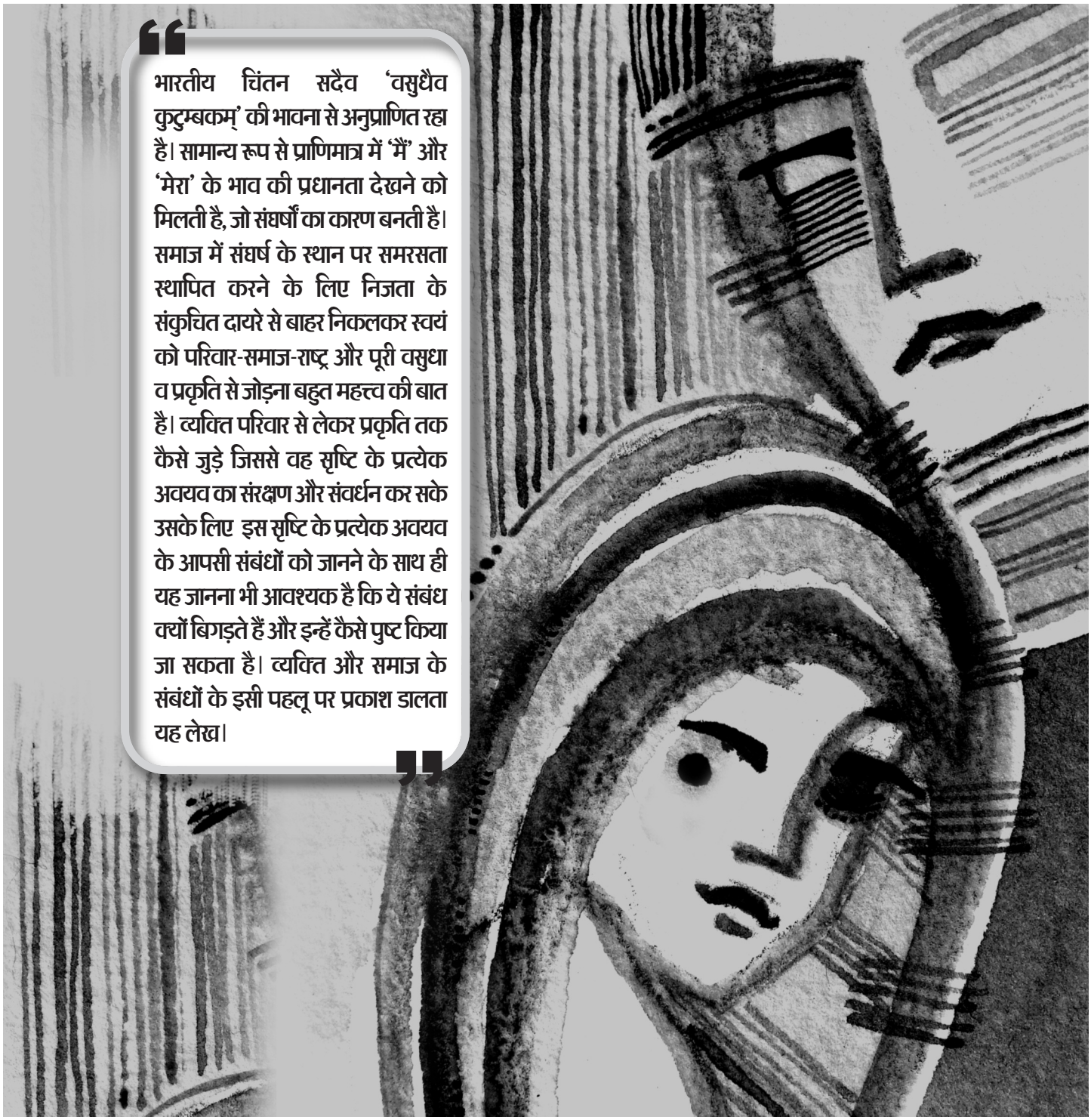

भारतीय चिंतन सदैव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से अनुप्राणित रहा है। सामान्य रूप से प्राणिमात्र में 'मैं' और 'मेरा' के भाव की प्रधानता देखने को मिलती है, जो संघर्षों का कारण बनती है। समाज में संघर्ष के स्थान पर समरसता स्थापित करने के लिए निजता के संकुचित दायरे से बाहर निकलकर स्वयं को परिवार-समाज-राष्ट्र और पूरी वसुधा व प्रकृति से जोड़ना बहुत महत्त्व की बात है। व्यक्ति परिवार से लेकर प्रकृति तक कैसे जुड़े जिससे वह सृष्टि के प्रत्येक अवयव का संरक्षण और संवर्धन कर सके उसके लिए इस सृष्टि के प्रत्येक अवयव के आपसी संबंधों को जानने के साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि ये संबंध क्यों बिगड़ते हैं और इन्हें कैसे पुष्ट किया जा सकता है। व्यक्ति और समाज के संबंधों के इसी पहलू पर प्रकाश डालता यह लेख।

- डॉ. राजवीर शर्मा

संबंधों का नाम ही है जिंदगी

एक साधारण स्वाभाविक या प्राकृतिक स्थिति के रूप में लिए जाने वाला शब्द 'संबंध' हमारे जीवन को साकार, सार्थक और सफल बनाने का आधार है या फिर संबंध ही जीवन को निराशा, अंधकार और अप्रासंगिकता की ओर भी धकेल सकते हैं। दूसरे शब्दों में, संबंध ही समरसता, मधुरता एवं मानवता को संपोषित करते हैं, जीवन में खुशियाँ भरते हैं या फिर संबंध ही जीवन में कड़वाहट, शत्रुता या विरोध एवं असहिष्णुता पैदा करते हैं। संबंध ही आकर्षण का केंद्र हैं, अर्थात् संबंध जोड़ता है, निकट लाता है तथा संबंध ही विमुखता व विकर्षण का कारण भी है संबंध तोड़ता भी है। संक्षेप में यदि कहा जाए तो व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही संबंधों का ताना-बाना है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक संबंधों के जाल में गुँथकर अपना कर्तव्य निर्वाह करता है। परिवार से लेकर व्यापार तक और प्रकृति से लेकर संसार तक संबंधों के अनेकआयामों से गुजरता है इनसान। वैचारिक से लेकर शारीरिक और आध्यात्मिक से लेकर भौतिक अनेक मोड़ और रूप हैं संबंध के। परंतु प्रश्न यह है कि आखिर 'संबंध' शब्द का अर्थ क्या है? इस शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? इसका रूप और स्वरूप क्या है? संबंध सुदृढ, निर्मल, सहयोगी कैसे बनाए जा सकते हैं? क्या यह शब्द दार्शनिकता पर अवलंबित है या व्यावहारिकता पर?

साधारणतया हम 'संबंध' शब्द का अर्थ इसका संधि-विच्छेद करके समझ सकते हैं। सम्+बंध = संबंध। इसका तात्पर्य हुआ, एक ऐसा बंधन, जो समानता और साम्यता पर टिका हो। जैसे किसी व्यक्ति के किसी संगठन या समूह के साथ जुड़ने या सदस्य होने के नाते जो संबंध बनते हैं, वे विचारों की या सोच की समानता या साम्यता पर आधारित होते हैं।

जब कभी भी यह वैचारिक साम्यता कमजोर होती है या फिर सदस्यों के बीच मतैक्य के स्थान पर मतभेद होता है तो संबंधों में भी दरार आती है और संगठन टूट जाते हैं, बिखर जाते हैं। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक वैचारिक साम्यता के आधार पर एक-दूसरे के साथ और संगठन के साथ संबंधों में बँधे हैं। इस विचार को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया जाता है, जिसे राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि नाम से जाना जाता है। ऐसे ही अनेक संगठन हैं जिनमें संबंधों का आधार हित की समानता है। श्रमिक संगठन, किसान संगठन, व्यावसायिक संगठन आदि। कभी-कभी विचार एवं हित दोनों की समानता भी संबंध स्थापित करने में उत्प्रेरक का काम करती है, जैसे 'भारतीय मजदूर संघ' या 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्' आदि। भारतीय मजदूर संघ ऐसे संबंधों का ताना-बाना है, जो श्रमिकों के हितों के संरक्षण के साथ-साथ 'वंदे मातरम्' के विचार के साथ भी अभिन्न रूप से जुड़ा है। एक अन्य उदाहरण नागरिक और राज्य के बीच संबंध का लिया जा सकता है। इन संबंधों का स्वरूप धार्मिक है। जहाँ नागरिक का धर्म है राज्य एवं संविधान द्वारा निर्धारित कानूनों, नियमों, नीतियों एवं विनियमों का अक्षरशः पालन करना, वहीं पर राज्य का धर्म है अपने नागरिकों को जीवन सुलभ न्याय, सुख-सुविधाएँ प्रदान करना; एक सरल, सहज, कल्याणकारी व्यवस्था निर्मित करना और उसे उसी रूप में क्रियांवित करना। जब-जब नागरिक और राज्य के बीच संबंध के इस धार्मिक रूप की अनदेखी या अवहेलना की जाती है, तब-तब इन संबंधों के बीच दरार पड़ती है और राज्य एवं नागरिक विरोधी स्वर बोलने लगते हैं तथा इसी अवस्था में आंदोलन तथा दमन जन्म लेता है।

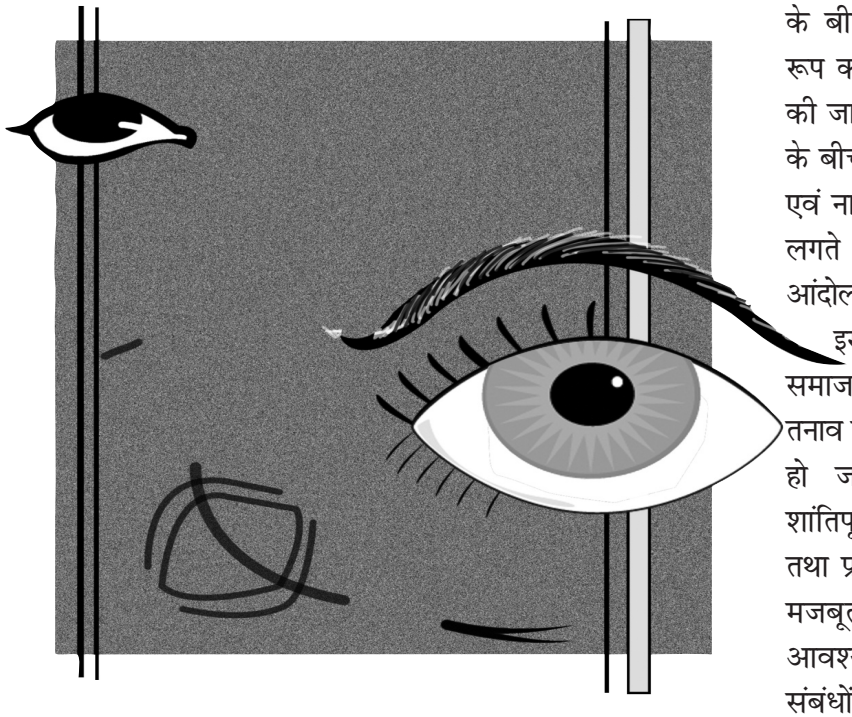

इसकी अनदेखी के साथ समाज के आंतरिक संबंधों में तनाव व खिंचाव प्रारंभ और गहरा हो जाता है। अतः समाज, शांतिपूर्ण एवं न्यायप्रिय समाज तथा प्रजातांत्रिक राज्य की जड़ें मजबूत करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य-नागरिक संबंधों के धार्मिक पथ पर नित्य-प्रति बल देकर दोनों उस पर आचरण करें।

संगठन और उसके सदस्यों के बीच संबंध का अर्थ चरित्र एवं स्वरूप उस संगठन के नेतृत्व के आदर्श, आचार-विचार एवं चरित्र पर भी निर्भर करता है। प्रेरणावान, निर्मल, निस्स्वार्थ, चरित्रवान नेतृत्व इन

व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही संबंधों का ताना-बाना है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक संबंधों के जाल में गुँथकर अपना कर्तव्य निर्वाह करता है। परिवार से लेकर व्यापार तक और प्रकृति से लेकर संसार तक संबंधों के अनेक आयामों से गुजरता है इनसान। वैचारिक से लेकर शारीरिक और आध्यात्मिक से लेकर भौतिक अनेक मोड़ और रूप हैं संबंध के।

संबंधों को स्थायित्व प्रदान करता है तथा इसके विपरीत मुद्दों वाला नेतृत्व इन संबंधों को कमजोर बनाने का कार्य करता है। इसके साथ ही व्यक्ति का आंतरिक स्वभाव, उसकी व्यक्ति और समष्टि के बारे में सोच, त्याग और सहजता-सरलता के गुण भी संबंध को पारिभाषित और निर्धारित करते हैं।

इसी संदर्भ में समता और समानता के सूत्र में बंधन को संबंध कहा जा सकता है। व्यक्ति और व्यक्ति, समाज और व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के बीच बंधन चिरस्थायी व मधुर होंगे, यदि समाज और राज्य के व्यवहार का आधार भेदभाव रहित होगा। इन्हीं संबंधों को मुखरित, प्रचलित और उपयोग में स्थापित करने का प्रयास बहुत से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दर्शन में हमें देखने को मिलता है। भारतीय संविधान भी संबंध की इसी व्याख्या से प्रेरित और निर्धारित है। ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष आदि के बीच भेदभाव को समाप्त कर समरसतापूर्ण संबंध स्थापित करने के पीछे संबंध की यही अवधारणा छिपी है। संबंधों के अर्थ को यदि परिवार के भीतर संबंध की प्रकृति को देखें तो पता चलता है कि संबंध एक भावात्मक अवधारणा है। संबंध भावनात्मक एकता तथा समग्रता का रूप है। जब-जब यह भावनात्मक संधि टूटती है, तब-तब परिवार टूटते और बिखरते हैं। जब-जब परिवार के सदस्यों के संबंधों में स्वर 'मैं' और 'मेरा' का स्थान ले लेता है, परिवार एकजुटता के संबंधों से अलग हो जाता है। कहीं-कहीं धन का धमाल, गरीबी, बेरोजगारी इस संबंध की बलि का आधार बनते हैं और कहीं-कहीं अमीरी, धन की प्रचुरता, धन का प्रभाव और भौतिकता इन संबंधों के टूटने का कारण बनती है। धन का अभाव या बरोजगारी संबंधों में कटुता, दूरी व नासमझी लाती हैं; वहीं स्वार्थ, लालच, अधिक से अधिक धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति धन के प्रभाव पर आधारित संबंध

की व्याख्या का आधार बनती है। संयुक्त परिवार के स्थान पर एकल परिवार के संबंध धन के अभाव और धन के प्रभाव दोनों से निर्धारित होते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों के बीच वैमनस्यपूर्ण, कभी-कभी शत्रुतापूर्ण संबंध इसके उदाहरण हैं। यहाँ यह कहा सकता है कि संबंध शब्द की परिभाषा और व्यवहार सोच से जुड़े हैं। व्यक्तिवादी, अधिकारवादी, स्वार्थवादी और भौतिकवादी सोच कार्यात्मक संबंध (Functional Relationship) को जन्म देगी तथा समग्रवादी, त्यागवादी, न्यायवादी सोच भावनात्मक एवं सेवोन्मुखी (Emotional & Service Oriented) संबंध स्थापित करेगी।

'संबंध' शब्द की अब तक की गई व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह उस क्रिया, प्रतिक्रिया और अंतर्क्रिया का नाम है, जो दो या उससे अधिक व्यक्तियों, समूहों, संगठनों या देशों के बीच होती है तथा संबंध का स्वरूप भी इन्हीं के द्वारा निर्धारित होता है, फिर चाहे वे परिवार के बीच हों या देशों के बीच आंतरिक संबंध हों। यहाँ एक बात और कहना आवश्यक है कि संबंधों की प्रकृति परिवर्तनशील है। ये स्वार्थाधृत, अस्थायी, मधुर या कटु हो सकते हैं। संबंध समय एवं परिस्थिति के अनुसार निर्धारित होते हैं, विशेषकर ऐसा वैदेशिक संबंधों या व्यापारिक, वाणिज्यिक और औद्योगिक संबंधों के विषय में अधिक देखने को मिलता है। संवैधानिक या सत्ता परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति और राज्य, समाज और राज्य के संबंध भी बदल सकते हैं। सांस्कृतिक एकता और साम्यता स्थिर संबंधों को पुष्ट करती है, जबकि स्वार्थ पर टिके संबंध अस्थिर होते हैं। नेता और अनुयायी के बीच संबंध भी परिस्थिति के अनुसार निर्धारित होते हैं। लालच का संबंध लोगों को अवसर के अनुसार बाँधे रख सकता है। सेवा, करुणा, दया और प्रेम पर आधारित संबंध अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं। समर्पण, श्रद्धा और स्नेह मधुर और स्थायी संबंधों के जन्म और पोषण का माध्यम बनते हैं। माता-पिता और संतान के संबंध, पति-पत्नी के संबंध, शिक्षक-शिष्य के संबंध इसके कतिपय उदाहरण हैं। सब की सुख, समृद्धि और प्रगति का भाव भी इसी प्रकार के संबंध का संवर्धन करता है। इसके विपरीत वर्चस्ववादी, नकारात्मक, प्रतिस्पर्धावादी प्रवृत्ति संबंधों को क्षीण करती है।

बहुत सारे संबंध विनिमय पर आधारित होते हैं, जैसे दुकानदार और उपभोक्ता के बीच या मकान मालिक और किरायेदार के बीच संबंध, इसके उदाहरण कहे जा सकते हैं। संबंध निर्णय और संबंध विच्छेद कभी-कभी कानूनी परिधि के भीतर होता है। गोद लिए जाने की प्रक्रिया या विवाह नामक संस्था के बीच बंधन या तलाक की प्रक्रिया इनके उदाहरण है। संबंधों की यह शृंखला बहुत लंबी है।

सांस्कृतिक एकता और साम्यता स्थिर संबंधों को पुष्ट करती है, जबकि स्वार्थ पर टिके संबंध अस्थिर होते हैं। नेता और अनुयायी के बीच संबंध भी परिस्थिति के अनुसार निर्धारित होते हैं। लालच का संबंध लोगों को अवसर के अनुसार बाँधे रख सकता है। सेवा, करुणा, दया और प्रेम पर आधारित संबंध अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं। समर्पण, श्रद्धा और स्नेह मधुर और स्थायी संबंधों के जन्म और पोषण का माध्यम बनाते हैं।

अब आता है दूसरा प्रश्न, और वह यह है कि संबंधों के बनने की प्रक्रिया और उन्हें सुदृढ बनाने का आधार क्या है? संबंध स्थापित करने और बनाए रखने के पाँच चरण बताए गए हैं।

जुड़ना (connection), सावधानी (caution), निरंतरता या एकरूप व्यवहार (consistency), साहस (courage) तथा प्रतिबद्धता (commitment)। कोई भी संबंध उतना ही मजबूत एवं गहरा होगा, जितनी ऊँची उसके प्रति प्रतिबद्धता व सजगता होगी। संबंधों को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए भी कुछ पूर्व शर्तें हैं। सबसे पहली शर्त यह है कि संबंधों को जीवंत बनाने के लिए संबंधितों में परस्पर अटूट विश्वास या भरोसे का होना आवश्यक है। कोई भी रिश्ता बिना विश्वास के नहीं चल सकता। यह कहना भी अनावश्यक नहीं होगा कि विश्वास अर्जित किया जाता है, खरीदा नहीं जा सकता। यदि कोई गलती भी बिना किसी दुर्भावना के (In Good Faith) की जाती है तो वह क्षम्य मानी जाती है और संबंध ज्यों के त्यों बने रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वह गलती किसी भी संदेह से ऊपर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अच्छे संबंधों की दूसरी अनिवार्यता है ईमानदारी, निष्ठा व प्रतिबद्धता। कोई भी संबंध झूठ, बेईमानी या चालाकी के जहर से मृत्यु की ओर ही बढ़ेगा। इसलिए त्याग, तपस्या, निष्पक्षता, सुस्पष्टता तथा सत्य पर आधारित संबंध चिरंजीवी रहेंगे। इसी प्रकार प्रेम व स्नेह तथा क्षमाशीलता संबंधों के लिए अमृत हैं, परंतु क्षम्यता का भी सत्य पर आधारित होना आवश्यक है। संक्षेप में संबंध एक विचार है, एक दृष्टिकोण है, एक समुधुर जीवनशैली है। संबंधों का नाम ही जिंदगी है।

लेखक वरिष्ठ शिक्षाविद् हैं।

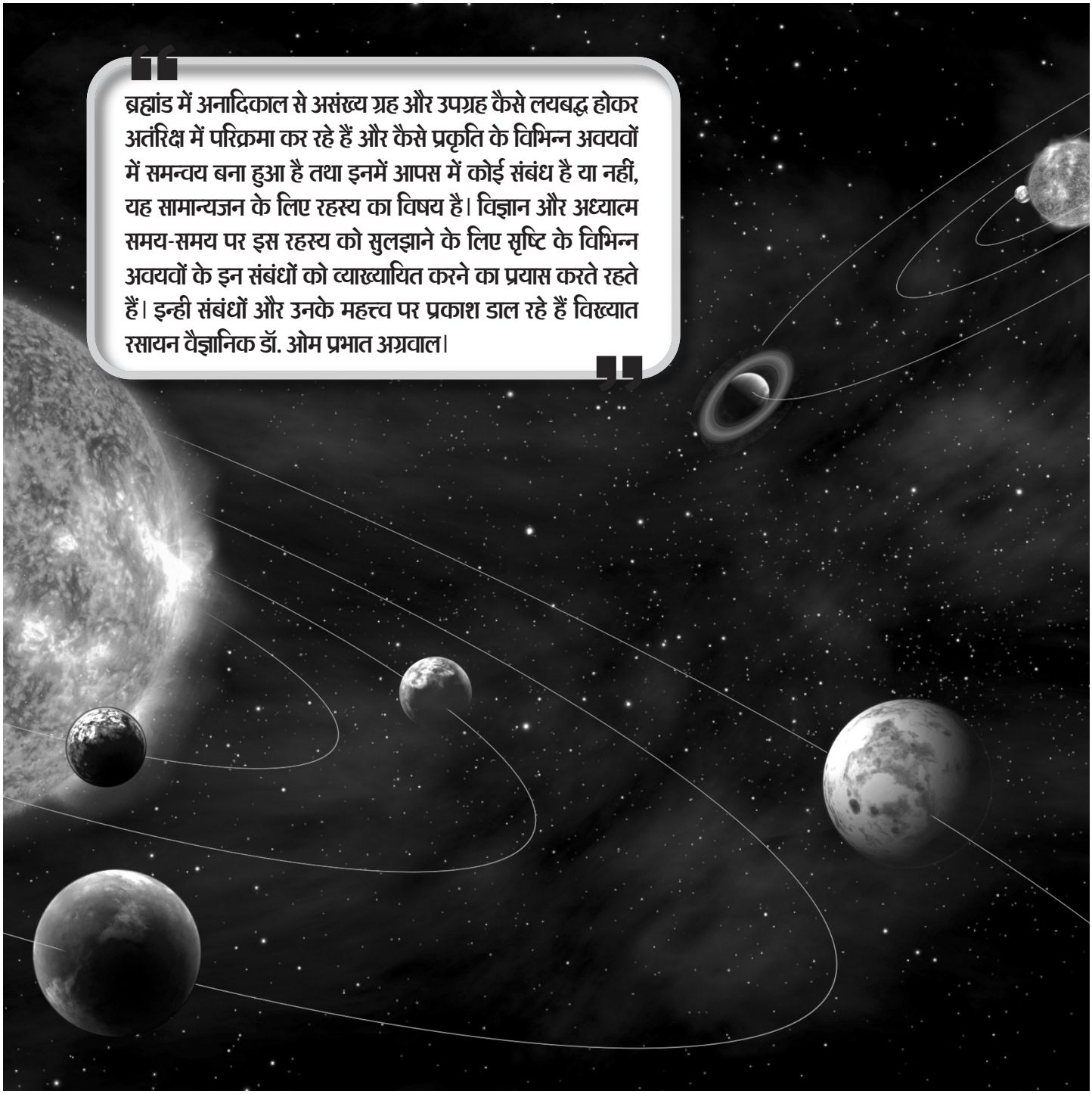

ब्रह्मांड में अनादिकाल से असंख्य ग्रह और उपग्रह कैसे लयबद्ध होकर अतंरिक्ष में परिक्रमा कर रहे हैं और कैसे प्रकृति के विभिन्न अवयवों में समन्वय बना हुआ है तथा इनमें आपस में कोई संबंध है या नहीं, यह सामान्यजन के लिए रहस्य का विषय है। विज्ञान और अध्यात्म समय-समय पर इस रहस्य को सुलझाने के लिए सृष्टि के विभिन्न अवयवों के इन संबंधों को व्याख्यायित करने का प्रयास करते रहते हैं। इन्ही संबंधों और उनके महत्त्व पर प्रकाश डाल रहे हैं विख्यात रसायन वैज्ञानिक डॉ. ओम प्रभात अग्रवाल।

डॉ. ओम प्रभात अग्रवाल

संबंधों की व्याख्या विज्ञान के संदर्भ में

संबंध विषय को ध्यान में रखते हुए मुझे यदि विज्ञान की कोई परिभाषा देनी हो तो वह यह होगी– 'समस्त चराचर ब्रह्मांड में विभिन्न प्रकार के संबंधों का अध्ययन और अंततः उनसे मानव कल्याण के उपायों की खोज ही विज्ञान है।' अब इस परिभाषा के आधार पर उदाहरणों के साथ विज्ञान के संदर्भ में 'संबंधों' की व्याख्या की जा सकती है।

ब्रह्मांड में टँगे हुए कोटि-कोटि पिंडों के मध्य आपस में क्या है, जो उन्हें अपनी ही सीमाओं में रहकर अनंत काल तक विचरण को बाध्य करता है? हमारे सौर मंडल के ग्रहों और उपग्रहों तथा उसके आगे आकाशगंगा के अनगिनत अन्य सौर मंडलों के ऐसे ही पिंडों में वह क्या संबंध है, जिसमें बँधकर वे अपनी धुरी पर घूमते हुए अपनी-अपनी कक्षाओं से लेशमात्र भी हिले बिना केंद्रीय ऊर्जा स्रोत (हमारे सौर मंडल में सूर्य) के चारों ओर निरंतर चलायमान रहते हैं। विज्ञान इस संबंध को गुरुत्वाकर्षण के नाम से व्याख्यायित करता है और यही गुरुत्व बल विज्ञान के अनुसार ब्रह्मांड को अविचल स्थायित्व प्रदान करता है। थोड़ा आगे बढ़ें। मनुष्य तथा अन्य जीवों का पृथ्वी से संबंध भी तो गुरुत्वाकर्षण के कारण है। जीवों का पृथ्वी पर टिके रहना, चलना, दौड़ना, गिरते समय विशिष्ट कोण का बनना, सभी कुछ गुरुत्व बल का ही तो खेल है! चंद्रमा के तल से मनुष्य का गुरुत्व संबंध पृथ्वी की अपेक्षा हल्का ही रहता है, लगभग 1/8; इसीलिए वह चल नहीं सकता, केवल फुदक सकता है। यह वही गुरुत्वाकर्षण है, जिसके लिए कहा जाता है कि उसे सर्वप्रथम सर आइजक न्यूटन ने पहचाना था, जब उसने वृक्ष से सेब के एक फल को टपककर पृथ्वी पर गिरते देखा, किंतु वास्तव में जिसकी व्याख्या सर्वप्रथम भास्कर द्वितीय (जन्म 1114 ई., कर्नाटक) ने की थी तथा जिस तथ्य को यहूदी विश्वकोश भी मान्यता देता है।

प्रकृति के विभिन्न अवयव एवं जीव

तथा वनस्पति जगत् आदि सब मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं, जिसके बारे में आज समस्त संसार में अकुलाहट है। प्रकृति के अवयव हैं– क्षिति (हम मिट्टी से तात्पर्य ले लें), जल, पावक (ऊर्जा का प्रतीक), गगन (आकाशीय पिंड) और समीर (हवा)। इन सभी से पृथ्वी के वासियों का जीवनीय संबंध है। इनमें से किसी के भी अभाव में जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। जल तो है ही जग का जीवन, मिट्टी खाद्यान्न उत्पन्न कर शरीर को समर्थ करती है, ऊर्जा समस्त विश्व को संचालित करती है, गगन ऊर्जा का प्रमुख स्रोत है और समीर जीव और वनस्पति जगत् के श्वास-प्रश्वास का आधार हैं।

थोड़ा सा ही बौद्धिक व्यायाम स्पष्ट कर देगा कि प्रकृति के अवयवों में भी पारस्परिक संबंध हैं, इनका आपसी तथा जीव एवं वनस्पति जगत् का पारस्परिक तथा इन अवयवों से संबंध जब तक स्वस्थ बना रहें तभी तक पर्यावरण की रचना भी स्वस्थ बनी रह सकती है, अन्यथा नहीं। अनेकानेक मानवीय क्रियाकलापों से जन्मे कारणों से वर्तमान में इन संबंधों का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, जिसके फलस्वरूप पर्यावरण गंभीर रूप से प्रभावित हो रहा है। स्पष्ट है कि आज पर्यावरण के बारे में विश्व की चिंता का आधार उपर्युक्त संबंधों का गिरता हुआ स्तर ही है।

आइए, अब हम विज्ञान के गंभीरतर पक्षों पर भी विचार कर लें। विज्ञान इस विश्व में दो प्रकार की इकाइयों का अस्तित्व स्वीकार करता है– द्रव्य एवं ऊर्जा। द्रव्य जिसमें कुछ भार (द्रव्यमान) हो और ऊर्जा, जो भार से रहित है। ये दोनों सर्वथा अलग तो लगते हैं, परंतु संबंध इनमें भी है। यही नहीं, संबंध इतना प्रगाढ़ है कि दोनों को एक दूसरे में परिवर्तित भी किया जा सकता है। वस्तुतः परमाणु विखंडन से प्रचंड ऊर्जा इसीलिए प्राप्त होती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में भाग लेने वाली इकाइयों के कुल द्रव्यमान का नगण्य-सा अंश ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है और इस नगण्य से भार की अकल्पनीय रूप से प्रचंड मात्रा की ऊर्जा में परिवर्तनीयता आइंस्टाइन के प्रसिद्ध समीकरण $E = mc^2$ द्वारा व्याख्यायित होती है, जहाँ E = ऊर्जा; m = द्रव्यमान तथा c = प्रकाश की गति। यही परिवर्तनीयता द्रव्य और ऊर्जा के परस्पर संबंध को रेखांकित करती है। दोनों के मध्य संबंध इतना गहरा है कि इलेक्ट्रॉन जैसे क्षुद्र कण में तो दोनों ही के गुण धर्म

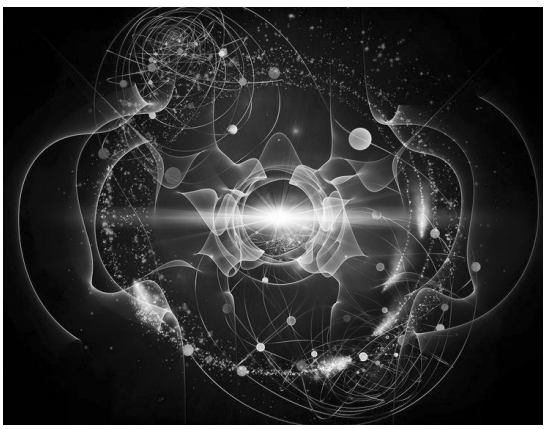

ब्रह्मांड में टँगे हुए कोटि-कोटि पिंडों व हमारे सौर मंडल के ग्रहों और उपग्रहों और उसके आगे आकाशगंगा के अनगिनत अन्य सौर मंडलों के ऐसे ही पिंडों में वह क्या संबंध है जिसमें बंधकर वे अपनी धुरी पर घूमते हुए अपनी-अपनी कक्षाओं से लेश मात्र भी हिले बिना केंद्रीय ऊर्जा स्रोत (हमारे सौर मंडल में सूर्य) के चारों ओर निरंतर चलायमान रहते हैं। विज्ञान इस संबंध को गुरुत्वाकर्षण के नाम से व्याख्यायित करता है और यही गुरुत्व बल विज्ञान के अनुसार ब्रह्मांड को अविचल स्थायित्व प्रदान करता है।

उपस्थित होते हैं।

परमाणु रचना की बात करें तो मूल कण इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन न केवल अन्यान्य क्रिया द्वारा एक दूसरे का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं, बल्कि अत्यंत आदरपूर्ण संबंधों के कारण सदैव अपनी ही कक्षा में बने रहते हैं और सामान्य परिस्थितियों में सीमा का अतिक्रमण कभी नहीं करते। यही नहीं, परमाणु के अति लघु आकार केंद्रक में प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन दोनों के उपस्थित होते हुए भी न्यूट्रॉन प्रोटॉनों के परस्पर विकर्षणीय संबंध को यथेष्ट सीमा तक उदासीन बनाकर केंद्रक को स्थायित्व प्रदान करते हैं एवं इस प्रकार प्रोटॉनों से मित्रवत् संबंध के दायित्व का निर्वाह करते हैं।

परमाणु स्वयं भी नितांत अकेले नहीं रह सकते। या तो अपने प्रकार के दूसरे परमाणु से संबंध स्थापित कर द्विणुक की रचना कर डालते हैं (जैसे क्लोरीन अणु एक द्विणुक है) अथवा अपने से भिन्न परमाणु (अर्थात् भिन्न तत्त्व के परमाणु) से संबंध बनाकर नाना प्रकार के अणुओं का निर्माण करते हैं, जो अंततः इस रंगारंग विश्व का आधार बन जाते हैं। परमाणुओं के आपसी संबंधों की वैज्ञानिक व्याख्या ने रसायनशास्त्र के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय 'रासायनिक बंधता' को ही जन्म दे दिया है। यदि दो भिन्न परमाणु अत्यंत भिन्न हों (जैसे सोडियम और क्लोरीन) तो संबंध आयनी बंधता के नाम से जाना जाता है और यदि भिन्नता यथेष्ट न हो अथवा बिल्कुल न हो तो सहसंयोजक बंधता। पश्चिम में परमाणु संरचना और रासायनिक संबंधों का अध्ययन डाल्टन के साथ प्रारंभ हुआ, परंतु उसके 600 वर्ष पूर्व ही भारत में कणाद मुनि ने इसकी व्याख्या की और जैन दार्शनिकों ने इसे विस्तार दिया।

सच तो यह है कि कतिपय आध्यात्मिक संबंधों की व्याख्या भी विज्ञान द्वारा संभव है। उदाहरणार्थ, अव्यक्त और व्यक्त का संबंध। कहा जा सकता है कि अध्यात्म का तो आधार ही इन दोनों के संबंध की पहचान है और फिर व्यक्त द्वारा अव्यक्त से अपने संबंधों की पुष्टि। ऐसे संबंध का एक अप्रतिम वैज्ञानिक उदाहरण रसायनशास्त्र में अनुनाद की संकल्पना है। बेंजीन अणु क्या है? क्या उसे केवल एक रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित और पूर्णरूप से व्यक्त किया जा सकता है? उत्तर होगा– नहीं! हमें एक से अधिक रेखाचित्र बनाने होंगे, परंतु अणु फिर भी अव्यक्त रहेगा। उस अव्यक्त अणु और व्यक्त चित्रों का संबंध ही अनुनाद है, या दूसरे शब्दों में, रसायनशास्त्र का अध्यात्मवाद। व्यक्त चित्रों के माध्यम से ही अव्यक्त बेंज़ीन अणु की संरचना की कल्पना मात्र की जा सकती है, ठीक उसी प्रकार से जैसे हम बहुदेववाद के माध्यम से अव्यक्त परमात्मा के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि हिंदुत्व में बहुदेववाद की अवधारणा ही उस अव्यक्त परमपिता परमेश्वर के अगणित आयामों को जनसामान्य की अल्प बुद्धि की पहुँच में लाने के लिए की गई है।

इसी प्रकार निराकार और साकार के जिस संबंध की व्याख्या में हिंदू अध्यात्मवादियों ने इतना पसीना बहाया है, उसका सीधा-सादा वैज्ञानिक रूपायन इलेक्ट्रॉन जैसे कण में दृष्टिगत होता है, जो कण के रूप में साकार और ऊर्जा के रूप में निराकार है। और फिर जीव में उपस्थित अदृश्य आत्मा का वैज्ञानिक समानांतर द्रव्य में छिपी ऊर्जा भी तो हो ही सकती है।

विज्ञान तो है ही संबंधों का शास्त्र और इसीलिए इसकी व्याख्या में पोथे लिखे जा सकते हैं। परंतु जो भी लेखन मैं कर सका हूँ, विश्वास है कि वह कम से कम विषय की भूमिका तो बन ही सकता है।

लेखक महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक के रसायन विभाग के पूर्व अध्यक्ष व इंडियन साइंस कांग्रेस के रसायन खंड के पूर्व अध्यक्ष हैं।

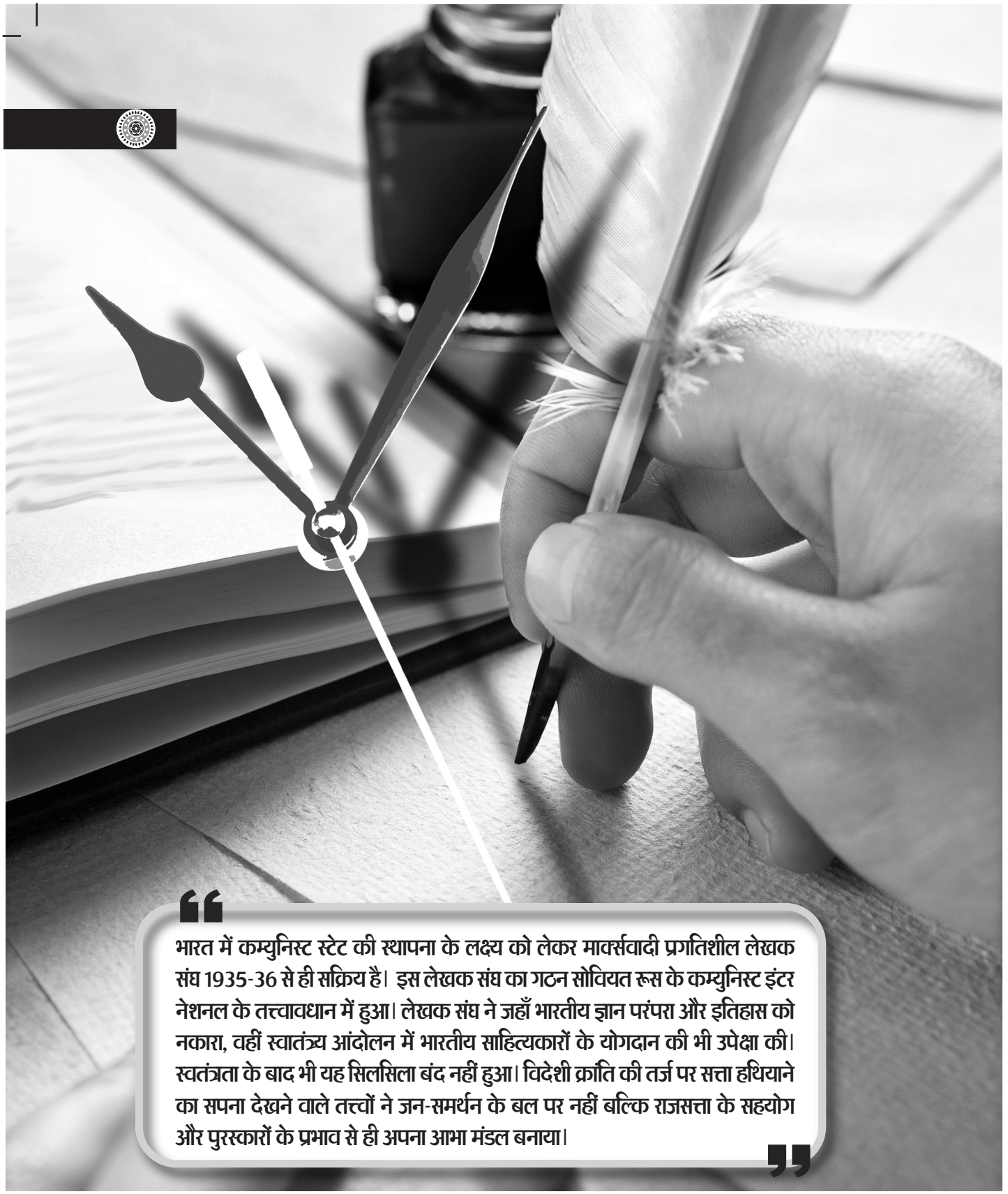

> भारत में कम्युनिस्ट स्टेट की स्थापना के लक्ष्य को लेकर मार्क्सवादी प्रगतिशील लेखक संघ 1935-36 से ही सक्रिय है। इस लेखक संघ का गठन सोवियत रूस के कम्युनिस्ट इंटर नेशनल के तत्त्वावधान में हुआ। लेखक संघ ने जहाँ भारतीय ज्ञान परंपरा और इतिहास को नकारा, वहीं स्वातंत्र्य आंदोलन में भारतीय साहित्यकारों के योगदान की भी उपेक्षा की। स्वतंत्रता के बाद भी यह सिलसिला बंद नहीं हुआ। विदेशी क्रांति की तर्ज पर सत्ता हथियाने का सपना देखने वाले तत्त्वों ने जन-समर्थन के बल पर नहीं बल्कि राजसत्ता के सहयोग और पुरस्कारों के प्रभाव से ही अपना आभा मंडल बनाया।

डॉ. प्रमोद कुमार दुबे

समकालीन साहित्य का अधूरा काल बोध

देश को स्वाधीन रखना है तो स्वाधीन जनमानस चाहिए। स्वाधीन जनमानस रखना है तो स्वाधीन साहित्य चाहिए। स्वाधीन साहित्य-सृजन के लिए अपनी ज्ञान परंपरा, इतिहास की समझ, स्वानुभव, प्रतिभा और कौशल अनिवार्य है। स्वाधीन भारत में वैचारिक और सृजनात्मक स्वाधीनता को बाधित करनेवाले तत्त्वों को राष्ट्रभक्त पारंपरिक धारा के विरुद्ध पोषण मिला, साथ ही नए अवरोधक तत्त्वों का उभार हुआ अर्थात् अंग्रेजों की आधुनिक शिक्षा की बुनियाद पर सोवियत रूस के संगठन कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के तत्त्वावधान में 1935-36 ई. से ही मार्क्सवाद प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा सक्रिय रहने लगा, जिसका उद्देश्य भारत में कम्युनिस्ट स्टेट स्थापित करना था। यहीं से विश्व साहित्य के नशे में आकर भारतीय साहित्य के स्वाधीनता संघर्ष के रचनात्मक इतिहास की उपेक्षा की जाने लगी।

इस अभियान में मार्क्सवादियों ने इतिहास को प्रमुखता दी, इन्होंने काल की भारतीय धारणा अर्थात् सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि पर आधारित चतुर्युग की काल धारणा को बिना समझे ही खारिज कर किया। सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने आलेख 'काल का डमरू नाद' में भारतीय कालबोध का परिचय दिया था, मगर मार्क्सवादी भी दूसरे सत्ता-लोलुपों की तरह ज्ञान को महत्त्व नहीं देता, वह पद से अर्थ की निष्पत्ति पर ही जोर देता है। इसीलिए वह किसी चतुर्युगी काल की धारणा में क्या, शाश्वत काल में भी विश्वास नहीं करता। लेकिन, विचित्रता यह भी है कि जिस समकालीनता के हथियार से वह सतत परिवर्तन और प्रासंगिकता के बहाने अपने विचारों के लिए जगह बनाता है, उसी समकालीनता से वह खुद को खारिज होते देख कालजयी होने का दावा करने लगता है, स्वयं को शाश्वत और अन्य को गया-गुजरा बताना हास्यास्पद नहीं तो और क्या है? यदि रंच भर भी सत्यनिष्ठा होती तो आधुनिक विश्व से मार्क्सवाद की राजसत्ता गिरते ही मार्क्सवादी काल-बोध पर आधारित साहित्य को भी खारिज मान

लिया जाता; लेकिन नहीं, ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि पद-भार का त्याग दुखद है, इसी पद-भार के लिए वह बिना बताए शाश्वत काल की इच्छा रखता है। चूँकि मार्क्सवादी साहित्य का मकसद राजसत्ता है, उसकी नजर इतिहास पर टिकी रहती है, क्योंकि इतिहास में उत्तराधिकार के मामले होते हैं, जबकि राजेतिहास समकालीनता के लिए उत्तरदायी तो है, शाश्वत काल के लिए नहीं।

इतिहास लेखन के लिए मार्क्सवादियों ने काल की जिस अपरिपक्व धारणा को आधार बनाया, उसी काल की धारणा को साहित्य के क्षेत्र में भी उपयोग किया। राज्यों के इतिहास में यह नियम प्रत्यक्ष दिखता है, लेकिन क्या यह नियम साहित्य, कला-संस्कृति के क्षेत्र में भी उपयोगी हो सकता है, जहाँ कालजयी साहित्य और शाश्वत जीवन मूल्यों की मान्यता है? इस प्रश्न के लिए मार्क्सवादी साहित्य या कला-संस्कृति की धारणा के पास न तो कोई हल है न ही स्थान। वह समकालीनता को ही महत्त्व देता है।

यह जानना जरूरी है कि शाश्वत और समकालीन एक ही काल के भेद हैं, इनमें आपसी विरोध नहीं है। प्रत्येक कालजयी रचना में युगीन प्रभाव रहता ही है। मुख्यतः शाश्वत में संवत्सर पर आधारित उत्सव और मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ होती ही हैं, मनोभावों का कभी अंत नहीं होता, जैसे काम, क्रोध, लोभ और मोह हजारों वर्ष से विद्यमान हैं। यह मानना ही होगा कि मानुषी रचना-संसार में मनुष्य के मन की शाश्वत भूमिका निरंतर बनी रहती है। जैसे मनुष्य के मन को शाश्वत मानना अनिवार्य है, इसी प्रकार प्रकृति भी शाश्वत है।

आधुनिक युग में जब मनुष्य स्वयं को प्रकृति का विजेता मानने लगा, जीवन-जगत् में प्रकृति या संवत्सर की भूमिका की उपेक्षा होने लगी और तब राजसत्ता ही सर्वोपरि मानी जाने लगी। राज की आवश्यकता और वरीयता को मनु ने भी स्वीकार किया, लेकिन उन्होंने राजसत्ता को बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने वाली शक्ति नहीं मानी, निरंकुश राजशक्ति को नियंत्रित करनेवाली शक्ति पर अवश्य प्रकाश डाला। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'राजा युग निर्माता है। वह अपने राजवृत्तियों के अनुसार राज्य में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर अथवा कलियुग का निर्माण करता है'–

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते।।

(मनुस्मृति, 9.301)

इससे तो यही प्रतीत होता है कि राजेच्छा से निर्मित समय की चाल-ढाल अधिक प्रभावकारी होती है। साहित्य-कला के सर्जक भी समकालिक प्रभाव से निरपेक्ष नहीं होते। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जैसे एक मनुष्य अपने मानसिक लोक के दिक्काल के लिए स्वाधीन है, वह चाहे सद्संकल्पों से सत्ययुग में रह सकता है अथवा दुःसंकल्पों से घोर कलिकाल में। वैसे ही एक राजा राज्य के स्तर पर अपने पुरुषार्थ से चतुर्युग में से किसी भी काल-

यदि मार्क्सवाद प्रेरित साहित्य सत्ता के उलट-पलट का ही साहित्य है, उसे किसी भाषा विवाद से मतलब नहीं, किसी जातीय स्मृति और स्वाधीनता संघर्ष से लेना-देना नहीं, वह किसी विदेशी क्रांति की तर्ज पर ही विश्व भर में एक साम्राज्य का स्वप्न देखता-दिखाता है तो वह राजसत्ता के जोर से, पद की शक्ति से और पुरस्कार के प्रभाव से ही टिक सकता है, जन स्वीकृति से नहीं।

चरित्र का निर्माण कर सकता है। प्रकृति के दिक्काल पर अधिकार करने की बात मिथ्या है। पृथ्वी के वातावरण में प्रदूषण उत्पन्न करने की क्षमता को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता।

मार्क्स की विकासवादी इतिहास-दृष्टि राजसत्ता को पड़ाव बनाती हुई आगे बढ़ती है। प्रश्न उठता है कि क्या राजसत्ता के पक्ष-विपक्ष के प्रभावों से पैदा होने वाले समकालीन साहित्य के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में सृजित किसी साहित्य की प्रभावकारी और निर्णायक भूमिका होती है या नहीं? यदि होती है तो वास्तव में वही कालजयी रचना हो सकती है, जिसमें विषमताओं के मध्य समत्व की स्थापना हुई हो। ऐसे मध्यमान पर स्थित स्वाधीनता के लिए सतत संघर्षरत साहित्य युग का व्यास बन जाता है। इस तरह का साहस जिस साहित्य में नहीं हो, वह कालजयी नहीं हो सकता। यदि मार्क्सवाद प्रेरित साहित्य सत्ता के उलट-पलट का ही साहित्य है, उसे किसी भाषा विवाद से मतलब नहीं, किसी जातीय स्मृति और स्वाधीनता संघर्ष से लेना-देना नहीं, वह किसी विदेशी क्रांति की तर्ज पर ही विश्व भर में एक साम्राज्य का स्वप्न देखता-दिखाता है तो वह राजसत्ता के जोर से, पद की शक्ति से और पुरस्कार के प्रभाव से ही टिक सकता है, जन स्वीकृति से नहीं।

वास्तकिता यह है कि प्रवर्तक सृजेता राजनीतिक काल के अधीन नहीं होता और न राजसत्ता की इतनी क्षमता है कि वह भीतर या बाहर की विस्तृत प्रकृति के पूरे दिक्काल को अधीनस्थ कर सके। राजसत्ता का सुनिश्चित प्रयोजन होता है। उन्हीं प्रयोजनों से उसकी सीमा तय होती है। किसी मानुषी व्यवस्था में मानुषी दुर्बलताएँ भी होती हैं, जिनसे मानुषी व्यवस्था की सीमा तय होती है। ऐतिहासिक विवरणों से यह ज्ञात होता है कि भूमंडल पर ऐसी प्रबल परिस्थितियाँ भी बन जाती हैं, जो राजशक्तियों की क्षमता से नियंत्रित नहीं होती, जिनके आगे किसी की नहीं चलती। ऐसी परिस्थितियाँ वैश्विक राजशक्तियों के बीच क्रमशः विकसित समीकरणों के कारण बनती हैं और तब विश्व में युद्ध होता है, नए-नए देश उभर आते हैं। इसी तरह प्रकृति में भी ऐसी पर्यावरणीय परिस्थितियाँ बनती हैं, जो किसी के नियंत्रण में नहीं होतीं। सर्वज्ञात है कि प्राकृतिक आपदाओं पर किसी का वश नहीं चलता। ऐसी परिस्थितियाँ देश-काल के बाहर नहीं घटित होती, मानुषी व्यवस्था के देश-काल के बाहर अवश्य होती हैं, इन्हीं अभिलक्षणों को शाश्वत देश-काल के अंतर्गत रखा जाता है।

काल की सत्ता प्रत्यक्ष है और परोक्ष भी। जिन नियमों को पालन किए बिना जीवन संभव न हो, उन्हें कैसे छोड़ा जा सकता है। मनुष्य देह की स्वाभाविक और प्राकृतिक चेष्टाएँ प्रत्यक्ष हैं और शाश्वत भी। परोक्ष मनोजगत् में भी शाश्वत चेष्टाएँ होती हैं, उन पर युगीन प्रभाव हो सकता है और नहीं भी। आधुनिक विज्ञान भी परोक्ष दिक्काल की सूक्ष्मतम सत्ता को पार कर सृष्टि की कालातीत शक्ति को जानने में लगा हुआ है। विज्ञान की दृष्टि में भी देश के अनुसार काल के विभिन्न स्तर हैं, विविध भाग-प्रभाग और उनकी वृत्तियों में भेद-प्रभेद भी। इसी प्रकार के दिक्काल को भर्तृ ने काल की कला-शक्ति कहा है, काल की इन्हीं कलाओं के अंतर्गत समकालीन और त्वरित कलाएँ भी हैं। वाक्यपदीयम् में बताया गया है कि काल शक्ति के आश्रित जितनी कलाएँ हैं, जन्म इत्यादि षड् विकारादि, भाव-भेद के यही जगत् का कारण हैं-

अध्याहितं कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।।
(वाक्यपदीयम् ,1.3)

यास्क के अनुसार छह विकार हैं- अस्ति; जन्म; विपरिणमते; परिवर्तन; वर्धते; विकास; क्षीयते; क्षय

होना, एवं विनश्यति, नष्ट होना। नाम रूपात्मक जगत् काल के अधीन है, इसलिए कोई भी अस्तित्व स्थिर नहीं, परिवर्तनशील है, विकासमान है, क्षयमान है और नश्वर है। खिलने और नष्ट हो जाने की निरंतर विविध क्रियाओं में ही भाव-भेद है, जिन्हें कला कहा गया और कला को काल के आश्रित बताया गया।

यह विचार काल के निरवधि या निष्कल रूप को मानकर चल रहा है, जिसमें सृष्टि की निर्वच या कहें, कल्पनातीत कलाएँ निहित समझी जाती हैं। बोधगम्य नहीं होने कारण इस दिक्काल की दशा को अद्वैत कहा गया है। इसी के साथ काल का सकल रूप भी है, जो कालबद्ध है, अवधियों में विभाजित है। काल की पूरी धारणा तभी बनेगी जब शाश्वत, समकालीन और त्वरितकाल की दशाएँ एक साथ निरवधि काल में सक्रिय होंगी।

समकालीन का पक्ष लेने वाले मार्क्सवादी लोग तीनों कालों के नियामक निरवधि काल अर्थात् शाश्वत को नहीं जानते। जिनका उद्देश्य सभ्यता के विकास से होने वाले परिवर्तनों में अपने लिए नई जमीन खोजने के अतिरिक्त कुछ नहीं, उनसे शाश्वत काल, शाश्वत साहित्य और शाश्वत राष्ट्र की धारणा से मुँह फेर लें तो कोई बात नहीं, काल अपनी वास्तविकता स्वयं सिद्ध कर देगा, शिक्षा क्षेत्र में गुमराही पैदा कर युवाओं की सृजन शक्ति का सर्वनाश तो न करें। मार्क्सवादी समकालीनता की जिद हथियार की तरह चलती और शिकार मारती है, जिससे जरूरी जानकारियों से हमारी आनेवाली पीढ़ियाँ वंचित हो जाती हैं। निरंकुशता किसी की हो, वास्तव में वह अपने दमन और हार को खुद बुलावा देती है।

समकालीनता को काल की त्रिधा धारणा भी अवसर देती है। पर उसे शाश्वत के अनुशासन में रखती है। यह अनुशासन किसी के नकार देने से समाप्त नहीं हो जाता। कोई भी परिवर्तन अंत नहीं होता। नियम यह है कि काल की कला शक्ति के मूल संरचना और कार्य में कोई परिवर्तन नहीं होता, यह वैज्ञानिक सत्य है, यह घटित होती है, किसी के स्वीकार करने या नहीं करने से यह नियम नहीं बदलता। काल को यम कहा गया है। यम शब्द से नियम शब्द बनता है, नियम में यम की भूमिका नियंत्रक की रहती है।

मनमाना कालबोध और इतिहास दृष्टि बनाने से किसी मिथ्या अस्तित्व की प्रतीति होने भी लगे, तब भी वह अस्तित्व फिल्मी दृश्य से अधिक नहीं हो सकता। स्थायी प्रभाव के लिए प्रकृति प्रदत्त प्रवृत्तियों में उतरना ही होगा और वे प्रवृत्तियाँ भी जड़ नहीं; जीवंत, सकारात्मक एवं आरोही होनी चाहिए। यह सच है कि समकालीनता में द्वंद्व है। शाश्वत में भी समकालीन और त्वरित के जितने भाग होते हैं, उतने द्वंद्व रहते हैं, परंतु ये द्वंद्व शाश्वत के नियंत्रण में रहते हैं। जहाँ शश्वत की धुरी होती है, वहाँ द्वंद्व का परिहार भी होता है।

शाश्वत यह देखने और सहने के लिए विवश है कि उसके सांस्कृतिक संघर्ष की कोख से जनमी राजनीति और राजनीति के प्रभाव से प्रसूत समकालीन चेष्टाएँ सर्वोपरि होने का स्वाँग कर रही हैं, परंतु वह अपने कठिन संघर्ष को झूठ कैसे मान लेगा, जब जुल्मी गुलामी से वह अकेला ही संघर्ष करता है और समकालीन सोच के लोग सत्ता के सुर में सुर मिलाकर उसे व्यर्थ एवं हठधर्मी बताते हैं। पराधीनता के तूफान में कोई समकालीन और उपभोक्ता नहीं, केवल शाश्वत ही सहारा बनता है। उसकी यह धारणा है कि बिना निरवधि काल को स्वीकार किए कोई सावधि काल पैदा हो ही नहीं सकता। यह तथ्य विज्ञान सम्मत है। ध्यान देने योग्य है कि पारंपरिक काल की धारणा आधुनिक विज्ञान की उपज नहीं है, यह चिरकाल से हमारे सांस्कृतिक स्रोतों में व्याप्त है।

प्राचीन स्रोत की खोज में हम अथर्ववेद के कालसूक्त के पास जा सकते हैं– 'काल में ही यह दिव्यलोक उत्पन्न हुआ है। काल में ही सभी प्राणियों के आश्रय यह पृथ्वी

काल की सत्ता प्रत्यक्ष है और परोक्ष भी। जिन नियमों को पालन किए बिना जीवन संभव न हो, उन्हें कैसे छोड़ा जा सकता है। मनुष्य देह की स्वाभाविक और प्राकृतिक चेष्टाएँ प्रत्यक्ष हैं और शाश्वत भी। परोक्ष मनोजगत् में भी शाश्वत चेष्टाएँ होती हैं, उन पर युगीन प्रभाव हो सकता है और नहीं भी। आधुनिक विज्ञान भी परोक्ष दिक्काल की सूक्ष्मतम सत्ता को पार कर सृष्टि की कालातीत शक्ति को जानने में लगा हुआ है।

उत्पन्न हुई है। अविनाशी काल के आश्रय में भूत, भविष्य और वर्तमान काल रहते हैं'–

कालोऽमूंदिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूत भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते।।
(19.53.6., अथर्व.)

'काल में ही इस सृष्टि का सृजन हुआ है, काल में सूर्यदेव तप रहे हैं, काल में ही विश्व के सभी प्राणी हैं, काल में ही यह सारा दृश्यजगत् आँखों से दिख रहा है'–

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति।।
(6.53.19.,अथर्व.)

'काल में ही मन, काल में ही प्राण और काल में ही सभी नाम समाहित हैं, जो काल में प्रकट और विलीन होते रहते हैं और काल की अनुकूलता में सभी प्रजाजन आनंदित होते रहते हैं'–

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः।।
(19.53.7.अ.)

राज्य और इतिहास की स्थापना हो या साहित्य की रचना, सर्वत्र समग्र काल की धारणा का ही आधार लिया जाना चाहिए। सृजनकारी क्षेत्र में किसी वाद के हथियार का कोई मायने नहीं होता और न काल की वैज्ञानिक धारणा को कोई अस्वीकार सकता है। वैज्ञानिक आधार पर ही समग्र काल की धारणा स्वीकार की जानी चाहिए, जिसमें संपूर्ण प्राणी जगत् के हित का पक्ष हो, केवल मनुष्य केंद्रित रचना समग्र नहीं होती ।

भ्रामक इतिहास के लेखन में मार्क्सवादियों ने जिस काल-बोध का उपयोग उसका आरंभिक काल जंगली और बर्बर था, उस असभ्य पत्थर युग से चलकर मनुष्य आधुनिक हुआ, यह काल बोध डारविन के विकासवाद पर खड़ा है। लेकिन हम सभी आज की बर्बरता से परिचित हैं, आज भी वे पत्थर के सिल-बट्टे और मिक्सर एक तरह से उपयोग हो रहे हैं। आदिम युग की अनेक पशुता मनुष्य ढो रहा है। सभ्यता फलाँगती नहीं चलती, वह अतीत को छोड़कर नहीं चलती, बल्कि अतीत को रूपांतरित करती चलती है, भूतकालिक अवशेष होते हैं। मार्क्समार्गीजंपिंग करते पाए जाते हैं, इसलिए स्वीकार और अस्वीकार का उनका पैमाना निराधार होता है। इसी का उदाहरण है राजसत्ता के समानांतर साहित्य के समकालीन रूप को महत्त्व देने की प्रवृत्ति, जो राजसत्ता के आश्रय से वंचित होते ही तिलमिला उठती है, उसे अपने होने का अहसास नहीं होता। जबकि प्रगतिवादी साहित्यकारों के प्रभाव की आँधी में इनके घोर विरोध के बाद भी साहित्य क्षेत्र में कुछ मशाल निरंतर जलते रहे। उन पर किसी उपेक्षा और अपमान का असर नहीं हुआ, ऐसा इसलिए कि वे लोग भारतीय मनीषा की अपनी धरती पर खड़े थे।

लेखक एनसीईआरटी में वरिष्ठ प्रोफेसर हैं।

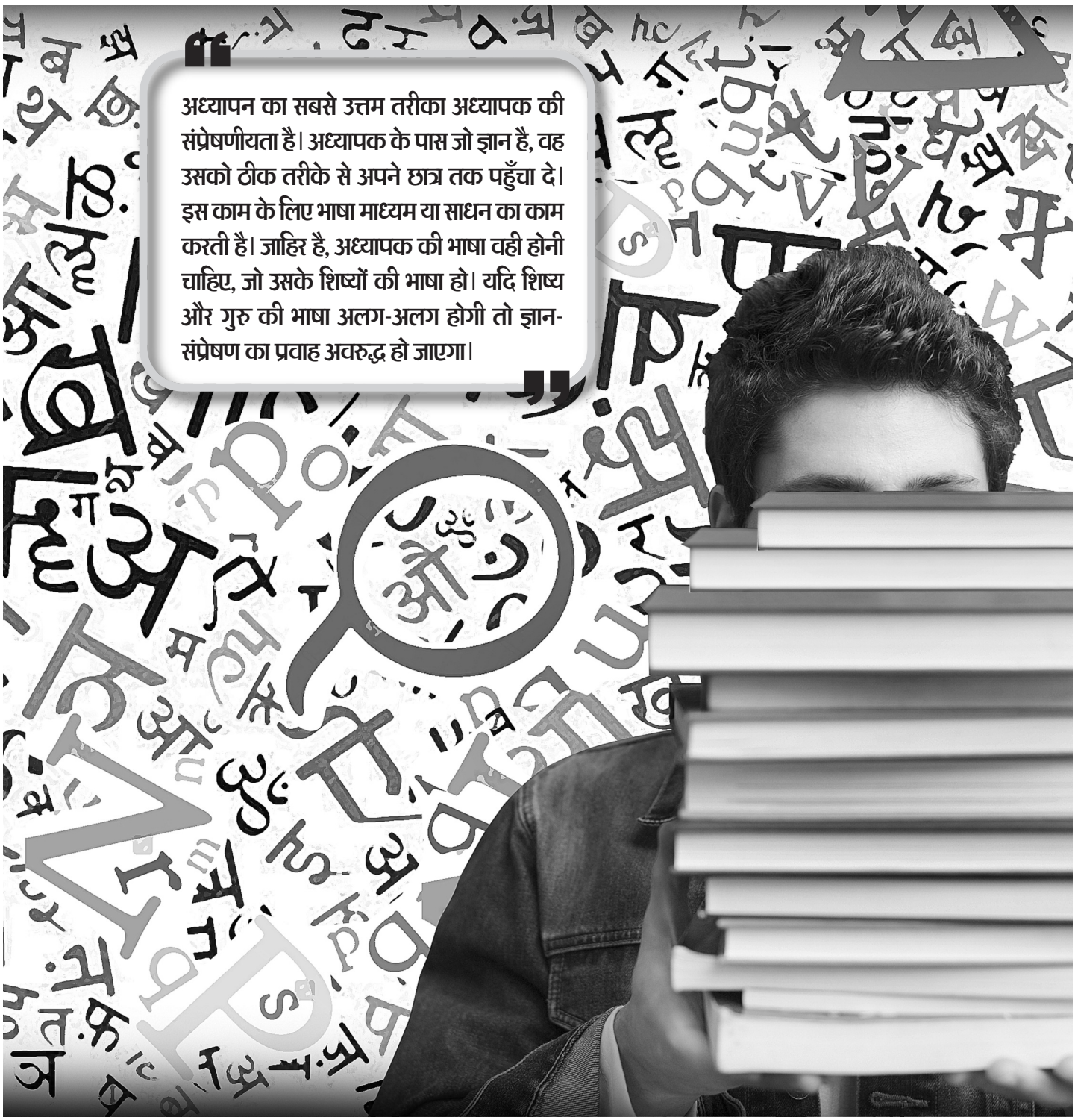
अध्यापन का सबसे उत्तम तरीका अध्यापक की संप्रेषणीयता है। अध्यापक के पास जो ज्ञान है, वह उसको ठीक तरीके से अपने छात्र तक पहुँचा दे। इस काम के लिए भाषा माध्यम या साधन का काम करती है। जाहिर है, अध्यापक की भाषा वही होनी चाहिए, जो उसके शिष्यों की भाषा हो। यदि शिष्य और गुरु की भाषा अलग-अलग होगी तो ज्ञान-संप्रेषण का प्रवाह अवरुद्ध हो जाएगा।

डॉ. कुलदीप चंद अग्निहोत्री

भारतीय भाषाएँ और छात्रों के मानवीय अधिकारों का प्रश्न

पिछले दिनों उत्तराखंड के नगर रुड़की में स्थित आई.आई.टी. (भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान) ने अपने पचास से भी ज्यादा छात्रों को बाहर का दरवाजा दिखा दिया। संस्थान का कहना है कि ये छात्र पढ़ाई-लिखाई में बहुत पिछड़े हुए हैं। यहाँ का कोर्स पूरा कर पाना इन छात्रों के बस का काम नहीं है। ये छात्र अपनी फरियाद लेकर राज्य के उच्च न्यायालय के पास भी गए, लेकिन न्यायालय ने भी इन छात्रों को कोई राहत नहीं दी। (वैसे अब संस्थान ने इन छात्रों को दयावश एक मौका परीक्षा पास कर लेने के लिए और दे दिया है) अब प्रश्न यह है कि क्या ये सभी छात्र पढ़ने लिखने में सचमुच इतने निक्कमे हैं, जितना संस्थान बता रहा है? संस्थान के इस तर्क को प्रथम दृष्ट्या तो स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह संस्थान अपने यहाँ किसी को बिना बौद्धिक जाँच पड़ताल के प्रवेश नहीं दे देता। प्रवेश से पहले यह ठोक-पीटकर स्वयं जाँचता है कि छात्र योग्य है या नहीं? यदि योग्य है, तभी उसे अंदर आने दिया जाता है। लेकिन कुछ महीने बाद संस्थान स्वयं ठोक-पीटकर लिये गए अपने छात्रों को अब अयोग्य और निक्कमे बता रहा है। किसी एकाध छात्र के बारे में संस्थान निकम्मा होने का फतवा जारी करता तो बात समझ आ सकती थी। असली सिक्कों के बीच धोखे से एकाध खोटा सिक्का भी चला ही जाता है, परंतु यहाँ तो संस्थान बता रहा है कि पूरी गुल्लक ही खोटे सिक्कों से भरी पड़ी है।

लेकिन ऊपर के तर्कों के बल पर ही संस्थान को कठघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता, क्योंकि संस्थान के पास तो पुख्ता प्रमाण हैं। इन छात्रों को पढ़ाने के बाद बार-बार परीक्षा ली गई, लेकिन परिणाम हर बार एक ही आया। ये प्रत्येक परीक्षा में बुरी तरह फेल हो गए। संस्थान का यही तर्क सभी पर भारी पड़ता है। जब छात्र परीक्षा में पास ही न हो पाए तो संस्थान बेचारा क्या करे? संस्थान ने इन छात्रों को प्रवेश दिया, इससे ही यह सिद्ध होता है कि ये छात्र योग्य हैं, लेकिन ये छात्र बार-बार फेल हो रहे हैं, इससे यह सिद्ध होता है

कि ये छात्र अयोग्य हैं। इन दोनों ध्रुवों के बीच की पहेली को सुलझाना जरूरी है।

इन छात्रों का शैक्षिक रिकार्ड तो बहुत बढ़िया है, लेकिन इनमें से ज्यादा की पढ़ाई-लिखाई हिंदी माध्यम से हुई है। दसवीं-बारहवीं तक छात्रों को आम तौर पर किसी भी भारतीय भाषा में पढ़ने- लिखने की सुविधा प्राप्त है। इस सुविधा का लाभ यह हुआ कि गाँव के, पिछड़ी जातियों के, सामान्य परिवारों के बच्चे भी अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने लगे और ताल ठोककर उन लोगों के साथ आकर खड़े हो जाते हैं, जिन्होंने सभी सुविधाओं का उपभोग करते हुए अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पढ़ाई की है। कबीर ने कहा भी है, 'मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान'। भाषा के म्यान को परे रखकर जब केवल ज्ञान का मोल किया गया था, तो ये छात्र भी दूसरों के समकक्ष आ खड़े हुए थे, लेकिन दुर्भाग्य से रुड़की के इस संस्थान में दाखिल हो जाने के उपरांत, वहाँ फिर म्यान को लेकर ही चर्चा होने लगी। जिस भाषा में संस्थान इन लड़कों को इंजीनियरिंग पढ़ा रहा था, वह भाषा इन छात्रों के पल्ले नहीं पड़ रही थी और जिस भाषा में ये छात्र इंजीनियरिंग समझना चाहते थे, उस भाषा में न पढ़ाने की अपनी जिद पर संस्थान अड़ा हुआ था। किस भाषा में पढ़ना है, इस विषय पर निर्णय लेने का अवसर आता है, तो हमारे देश में निर्णय करने की ताकत संस्थान के पास है, छात्र के पास नहीं। यह हमारी शिक्षा पद्धति की आंतरिक विसंगति है, जिसने न जाने कितने प्रतिभावान छात्रों का जीवन लील लिया है। उनकी बौद्धिक क्षमताओं को कुंठित कर दिया है। जब किस भाषा में छात्र को पढ़ना है, इतना ही नहीं बल्कि किस भाषा में उत्तर देना है, इसका निर्णय संस्थान को करना था, तो उसका जो परिणाम निकल सकता है, वही निकला। छात्र लगातार फेल होते गए और संस्थान अपनी जीत के जश्न मनाता रहा। कई समाजों में जीत के जश्न पर बलि देने की परंपरा है। इसलिए संस्थान ने अपनी जीत के अनुष्ठान में इन छात्रों को बाहर निकाल नरबलि देने का कर्मकांड भी पूरा कर लिया।

इस नरबलि से बचने का इन छात्रों के पास एक ही रास्ता था कि वे उच्च न्यायालय में गुहार लगाते, लेकिन इन छात्रों के धैर्य और गुरुभक्ति की दाद देनी होगी कि न्यायालय के पास भी दया की भीख माँगने के लिए ही गए कि संस्थान हमें परीक्षा देने का एक और अवसर प्रदान कर दे। बस इतना ही। हम एक बार फिर संस्थान की भाषा में बोल पाने और लिख पाने में सक्षम बनने के लिए जी जान लगा देंगे। इन छात्रों ने यह नहीं कहा कि संस्थान ने अपने भीतर ही बीमारी के कीटाणु सँभाल कर रखे हैं, जो प्रतिभावान छात्रों को भी एकाध सत्र में ही पंगु कर देते हैं। उन में हीन भावना भर देते हैं, जिसके कारण वे अपनी बौद्धिक क्षमताओं के अनुरूप जीवन में लंबी छलाँग लगाने में नकारा हो जाते हैं। न्यायालय ने संस्थान के पक्ष में ही फैसला देना था। उसके लिए निर्णय करने के लिए यह विषय है ही नहीं कि छात्र को अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने का अधिकार है या नहीं। उसके लिए देखने का विषय केवल इतना ही है कि संस्थान के मापदंडों पर छात्र पूरे उतरते हैं या नहीं? यह

किस भाषा में पढ़ना है, इस विषय पर निर्णय लेने का अवसर आता है, तो हमारे देश में निर्णय करने की ताकत संस्थान के पास है, छात्र के पास नहीं। यह हमारी शिक्षा पद्धति की आंतरिक विसंगति है, जिसने न जाने कितने प्रतिभावान छात्रों का जीवन लील लिया है।

किसी एकाध छात्र के बारे में संस्थान निकम्मा होने का फतवा जारी करता तो बात समझ आ सकती थी। असली सिक्कों के बीच धोखे से एकाध खोटा सिक्का भी चला ही जाता है, परंतु यहाँ तो संस्थान बता रहा है कि पूरी गुल्लक ही खोटे सिक्कों से भरी पड़ी है।

अलग बात है कि ये मापदंड उन विदेशी साम्राज्यवादी शासकों ने अपने हितों के लिए निर्धारित किए थे, जिन्होंने दो सौ साल इस देश पर राज किया और अब उन्हें यहाँ से गए भी सात दशक हो गए हैं। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, जब छात्र सब जगह से हार गए, तब संस्थान ने तरस खाकर उन्हें परीक्षा उत्तीर्ण करने का एक और अवसर दे दिया है, लेकिन जिन कारणों से ये प्रतिभाशाली छात्र फेल हो रहे थे, उन कारणों को संस्थान ने बदलना तो दूर, उन पर गौर करना भी उचित नहीं समझा।

अध्यापन का सबसे उत्तम तरीका अध्यापक की संप्रेषणीयता है। अध्यापक के पास जो ज्ञान है, वह उसको ठीक तरीके से अपने छात्र तक पहुँचा दे। इस काम के लिये भाषा माध्यम या साधन का काम करती है। जाहिर है, अध्यापक की भाषा वही होनी चाहिए, जो उसके शिष्यों की भाषा हो। यदि शिष्य और गुरु की भाषा अलग-अलग होगी तो ज्ञान-संप्रेषण का प्रवाह अवरुद्ध हो जाएगा। रुड़की का यह संस्थान राजकीय संस्थान है। वह आम आदमी के पैसे से चलता है। उसी आम आदमी के पैसे से, जिसकी भाषा को संस्थान के प्रवेश द्वार पर ही रोक दिया गया है। आम आदमी से संस्थान को चलाने के लिए पैसा तो लिया जा रहा है, लेकिन उसे उसकी भाषा में पढ़ाने को यह संस्थान तैयार नहीं है।

संस्थान में अंग्रेजी भाषा में ही पढ़ाए जाने की नीति के पक्षधर यहाँ एक तर्क दे सकते हैं कि संविधान की सूची में तो अनेक भाषाओं को दर्ज किया गया है, इसलिए कल कोई छात्र आकर कह सकता है, कि उसे तमिल में पढ़ाया जाए, दूसरा कह सकता है मुझे पंजाबी में पढ़ाया जाए, तीसरा हिंदी की माँग करेगा और चौथा असमिया की। इस प्रकार तो संस्थान में अराजकता फैल जाएगी। ऊपर से देखने पर यह तर्क भारी भरकम लगता है। इसके नीचे बाकी सारी बहस दब सकती है, लेकिन यह तर्क ऊपर से जितना भारी दिखाई देता है, भीतर से उतना ही खोखला है। किसी भी राजकीय संस्थान को दो भाषाओं में पढ़ने की अनुमति तो देनी ही होगी। पहले उस प्रदेश की भाषा, जिस में संस्थान स्थित है और दूसरा हिंदी, क्योंकि वह संविधान के अनुसार राजभाषा है। उदाहरण के लिए जो भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान तमिलनाडु में है,

उसे तमिल और हिंदी में पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार तो देना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह जितनी ज्यादा भाषाओं में अध्यापन की सुविधा प्रदान कर सकता है, वह उसकी उदारता मानी जाएगी। रुड़की का यह संस्थान हिंदी भाषी प्रदेश उत्तराखंड में स्थित है। अतः यहाँ तो छात्रों को हिंदी में पढ़ने-लिखने का और भी ज्यादा अधिकार है।

कुछ अति बुद्धिजीवियों ने छात्रों की जाति तलाशना शुरू कर दिया है। अपनी तलाश में उन्होंने पाया कि अधिकांश छात्र अनुसूचित जातियों के हैं। बस, उन्होंने अपना वही पुराना राग अलापना शुरू कर दिया। अनुसूचित जातियों के छात्रों से अन्याय और जो लोग अनुसूचित जाति के छात्रों से खार खाए रहते हैं, उन्होंने भी मोर्चा सँभाला। 'हमने तो पहले ही कहा था', जैसी शैली में कि अनुसूचित जातियों के लिए सीटें आरक्षित करके आई.आई.टी. जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता मत बिगाड़ो। ये लोग यहाँ चल नहीं पाएँगे दरअसल दोनों ही पक्ष उन्हीं साम्राज्यवादी हितों की रक्षा कर रहे हैं, जिन हितों की रक्षा की जिम्मेदारी इन्हें गोरे प्रभु सौंप गए थे। इनका तरीका अलग-अलग है और ऊपर से परस्पर विरोधी भी मालूम पड़ता है, लेकिन उद्देश्य दोनों का एक समान ही है। 'मारो कहीं, लगे वहीं'। अपनी भाषा में पढ़ने के अधिकार की तर्कसम्मत लड़ाई को इन्होंने जाति की लड़ाई में बदल दिया। ध्यान रहे आई.आई.टी. में अनुसूचित जाति के जिन छात्रों को प्रवेश मिलता है, उनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ किसी से कम नहीं होतीं। वे भी मुकाबले की लड़ाई जीत-कर ही यहाँ तक आ पाते हैं। यह अलग बात है कि यहाँ उनकी घेराबंदी की पूरी व्यवस्था है। वे कबड्डी में यानी अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने में माहिर हैं और संस्थान उनको क्रिकेट यानी अंग्रेजी की पिच पर घेर कर मारता है। संस्थान की इस तरकीब को भी स्वीकार किया जा सकता है यदि वह इस घटिया तरकीब में भी संस्थान के सभी छात्रों के साथ समान व्यवहार कर रहा होता। संस्थान यदि उन छात्रों की परीक्षा, जो दस-जमा-दो की अपनी कक्षा अंग्रेजी माध्यम से उत्तीर्ण करके आए हैं, हिंदी भाषा के माध्यम से ले लेता और जो दस-जमा-दो की कक्षा हिंदी माध्यम से पास करके आए थे, उनकी परीक्षा अंग्रेजी माध्यम से लेता और फिर परिणाम घोषित करता, तब पता चल जाता कि

ध्यान रहे आई.आई.टी. में अनुसूचित जाति के जिन छात्रों को प्रवेश मिलता है, उनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ किसी से कम नहीं होतीं। वे भी मुकाबले की लड़ाई जीत कर ही यहाँ तक आ पाते हैं। यह अलग बात है कि यहाँ उनकी घेराबंदी की पूरी व्यवस्था है। वे कबड्डी में यानी अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने में माहिर हैं और संस्थान उनको क्रिकेट यानी अंग्रेजी की पिच पर घेरकर मारता है।

विपरीत भाषा में परीक्षा देने से परिणाम पर क्या असर पड़ता है। तब शायद पहले वर्ग के छात्र भी बार-बार के प्रयास में पास न हो पाते। संस्थान खेल कोई भी खेले, लेकिन कम से कम खेल के नियम तो सभी छात्रों के लिए समान रखे। दुर्भाग्य से संस्थान यही नहीं कर पाया। नियम अंग्रेजी भाषा के पक्ष में हैं और खेलने के लिए बुलाया जा रहा है भारतीय भाषा के माध्यम से परीक्षा देने वालों को। इस पर भी धूर्तता यह कि उनके हार जाने पर उनकी योग्यता को लेकर ही प्रश्न खड़े किए जा रहे हैं।

ऐसे मौकों पर बुद्धिजीवियों की एक और जमात नमूदार होती है। यह इस पूरी बहस को एक नया ऐंगल देती है। चेहरे पर गंभीरता इतनी है कि इनकी धूर्तता को कोई लाख चाहने पर भी सूँघ नहीं सकता। इनका कहना है कि उच्च शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से दी ही नहीं जानी चाहिए, क्योंकि भारतीय भाषाओं में पढ़ने से छात्रों के भविष्य पर ग्रहण लग जाता है। उनको नौकरी कहाँ मिलेगी, यह सोच-सोचकर इस जमात का हाजमा खराब होने लगता है। छात्रों के भविष्य को ध्यान में रखते हुए यह जमात, उच्च शिक्षा, खासकर विज्ञान के विषयों की, भारतीय भाषाओं में देने का निषेध करती है। आम आदमी इस जमात की मंशा को लेकर धोखा खा जाता है। वह सोचता है, ठीक ही कहते हैं। इस जमात का इसमें अपना स्वार्थ तो है नहीं। बेचारे हमारे भविष्य की खातिर तो कह रहे हैं, लेकिन सच्चाई इसके विपरीत है। पहला प्रश्न तो यही है कि इनको, दूसरों के भविष्य को लेकर दूरगामी प्रभाव के निर्णय लेने का अधिकार किसने दिया? कहीं ऐसा तो नहीं कि इनको चिंता अपने भविष्य की है और ये नाटक भारतीय भाषाओं में पढ़ने वाले छात्रों के भविष्य की चिंता का कर रहे हैं? उच्च शिक्षा संस्थानों में पढ़ने के लिए जो भी छात्र आते हैं, वे बालिग या वयस्क ही होते हैं। उनको हमारा संविधान सभी अधिकार देता है। वे सम्पत्ति खरीद और बेच सकते हैं। वे अपने जीवन का सबसे बड़ा निर्णय यानी अपनी इच्छा से विवाह करने का अधिकार रखते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें वोट देने का अधिकार है। संविधान मानता है कि वे इतने परिपक्व हो चुके हैं कि अपनी इच्छा से सरकार बना सकें, परंतु उन्हें यह निर्णय करने का अधिकार नहीं है कि उन्हें किस भाषा में परीक्षा देनी है, किस भाषा में पढ़ना है, यह निर्णय करने का अधिकार उनके पास नहीं है। उनका यह अधिकार उन्हीं के भविष्य की दुहाई देकर छीना गया है। हमारा तर्क बहुत सीधा है। एक बालिग व्यक्ति को यदि लगता है कि उसका भविष्य अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ने-लिखने में है तो वह जरूर अंग्रेजी माध्यम से पढ़ेगा और लिखेगा। उसे ऐसा करने का पूरा अधिकार भी है और सरकार उसके इस अधिकार की रक्षा भी करती है, लेकिन दूसरे वयस्क व्यक्ति को लगता है कि उसका भविष्य भारतीय भाषा में पढ़ने-लिखने में

है। उसे भी इसका अधिकार है, लेकिन दुर्भाग्य से सरकार और उस द्वारा संचालित शिक्षा संस्थान उसे उसका यह अधिकार देने को तैयार नहीं हैं। जाहिर है कि उच्च शिक्षा संस्थानों में बालिग छात्रों के दो समूह बन गए हैं। पहला समूह अपना भविष्य अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने-लिखने में देखता और दूसरा समूह अपना भविष्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ने लिखने में देखता है। बालिग होने के कारण दोनों समूहों के छात्रों को यह निर्णय करने का अधिकार है, लेकिन उच्च शिक्षा संस्थान पहले समूह के इस अधिकार की तो रक्षा करते हैं, लेकिन दूसरे समूह के छात्रों के अधिकार की रक्षा करने की बात तो दूर, वह डंके की चोट पर उसका हनन करते हैं। इसलिए मूल प्रश्न भारतीय भाषाओं के महत्त्व या उनकी उपादेयता का नहीं है, बल्कि यह प्रश्न एक खास वर्ग के मानवीय अधिकारों के हनन का है।

रुड़की का यह संस्थान अपने छात्रों से पहले तो उनका यह मानवीय अधिकार या जन्मसिद्ध अधिकार छीनता है और उसके बाद उनको अयोग्य घोषित करता है। वह पहले उनके प्रकृति प्रदत्त कवच और कुंडल छीनता है और उसके बाद उनको निहत्था करके उन्हें अयोग्य घोषित करता है, लेकिन आश्चर्य है कि इस बात पर तो सभी टीका टिप्पणी कर रहे हैं कि उन छात्रों को एक और अवसर दिया जाना चाहिए या नहीं, लेकिन मूल प्रश्न की ओर कोई ध्यान देने को तैयार नहीं है। यहाँ तक भी सिर धुना जा रहा है कि कैसे-कैसे लोग अब आई.आई.टी. तक में आने लगे हैं। भाव कुछ इसी प्रकार का है, जैसे किसी आभिजात्य वर्ग के क्लब में कोई धोती पहने नंगे पैरों, देहात का आदमी घुस आया हो।

किसी ने यह प्रश्न नहीं उठाया कि इन छात्रों के अपनी भाषा में पढ़ने के मानवीय

किसी ने यह प्रश्न नहीं उठाया कि इन छात्रों के अपनी भाषा में पढ़ने के मानवीय अधिकारों की भी रक्षा की जानी चाहिए। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग भी चुप्पी साध कर बैठ गया है। अपने देश में आतंकवादियों के मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए भी खून-पसीना एक कर देने वाले खूँखार बुद्धिजीवियों की भी एक जमात है, लेकिन इस ग्रुप के मुँह पर, इन प्रतिभाशाली छात्रों के मानवीय अधिकारों के प्रश्न आने पर ताला क्यों लग गया?

अधिकारों की भी रक्षा की जानी चाहिए। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग भी चुप्पी साधकर बैठ गया है। अपने देश में आतंकवादियों के मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए भी खून-पसीना एक कर देने वाले खूँखार बुद्धिजीवियों की भी एक जमात है, लेकिन इस ग्रुप के मुँह पर, इन प्रतिभाशाली छात्रों के मानवीय अधिकारों के प्रश्न आने पर ताला क्यों लग गया? याकूब मेनन के मामले में, उसके मानवीय अधिकारों के लिए लड़ने वाले अली बाबा के ऐसे 'चालीस' ने तो अपनी शिनाख्ती परेड भी इस देश के लोगों के सामने कर दी थी। यहाँ यह ध्यान रखने की जरूरत भी है कि रुड़की के संस्थान का नाम तो इस पूरी बहस में केवल एक प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है। यह बहस और इसमें उठाए गए मुद्दे भारत के सभी उच्च शिक्षा संस्थानों पर समान रूप से लागू होते हैं।

एक और समूह भी इस पूरी बहस में अपनी हिस्सेदारी सँभालकर बैठा है। यह समूह ऊपर से देखने पर उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश ले लेने के बावजूद वहाँ के माहौल में स्वयं को मिसफिट पाते हुए, अनुत्तीर्ण हो गए छात्रों का सबसे बड़ा हितचिंतक दिखाई देता है, लेकिन असल में यह समूह इन छात्रों का सबसे बड़ा शत्रु है। यह समूह सबसे पहले तो व्यवस्था और सरकार को लताड़ लगाता है कि वह भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़कर आए छात्रों को आई.आई.टी. और ऐसी ही अन्य संस्थाओं में प्रवेश दे देने के बाद उनको भूल जाती है। अब इन छात्रों की अंग्रेजी कमजोर है, इसीलिए तो ये छात्र बाकी छात्रों के साथ चल नहीं पाते और फेल हो जाते हैं, इसलिए शिक्षा संस्थानों को चाहिए कि वे ऐसे छात्रों को अंग्रेजी में अव्वल बनाने के भी प्रयास करें, ताकि ये छात्र दूसरे छात्रों का मुकाबला कर सकें। इस समूह के इस दयानुमा सुझावों के पीछे वही धूर्तता छिपी हुई है कि यदि आई.आई.टी. में पढ़ना है तो अंग्रेजी तो सीखनी ही पड़ेगी। हाँ, तुम्हें सिखाने के अतिरिक्त प्रयास किए जा सकते हैं। कोई यह नहीं कहता कि जो छात्र भारतीय भाषाओं में पढ़ना चाहते हैं, उनके लिए वैसी ही व्यवस्था कर दी जाएगी, ताकि सारी समस्याओं का ही अंत हो जाए।

लेखक हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला के कुलपति हैं।

> प्रायः जब तक कोई रोग महामारी की तरह दिखाई नहीं देता, हम उसकी चिंता नहीं करते। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य के प्रति जो नियमित सजगता, स्वाभाविक चिंता या विचार होना चाहिए वह लुप्त हो गया है। हमें यह सोचना ही होगा कि ऐसे देश में जहाँ हर दो माह बाद मौसम में परिर्वतन होता हो, तो वहाँ उस मौसम के कारण होने वाले उपद्रवों से शरीर को कैसे बचाएँ? भारत की स्वास्थ्य परंपरा में मौसम की इसी भिन्नता के कारण पारंपरिक रूप से भोजन, वस्त्र और चर्या को मौसम के अनुरूप ही बताया गया है।

डॉ. ज्योत्स्ना

बदलता मौसम और स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता

अभी कुछ दिन पहले तक डेंगू के कारण भय व्याप्त था। मेरे पास आने वाले अधिकतर फोन यही पूछने के लिए होते थे कि डेंगू में आयुर्वेद के अनुसार और क्या कर सकते हैं। यह स्थिति सिर्फ मेरे फोन पर ही नहीं थी, बल्कि फेसबुक से लेकर अन्य सोशल मीडिया के माध्यम भी ऐसे उपाय जानने या बताने से भरे थे। हमारी समस्या यह है कि जब तक कोई रोग महामारी की तरह दिखाई नहीं देता, कोई उसकी चिंता भी नहीं करता। स्वास्थ्य के प्रति जो नियमित सजगता, स्वाभाविक चिंता या विचार होना चाहिए वह लुप्त हो गया है। ऐसे में जब किसी रोग का प्रकोप हो और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता है तो आयुर्वेद या अन्य चिकित्सा पद्धतियों की शरण लेने लगते हैं। हर वर्ष की तरह ही डेंगू का अपने मौसम में प्रकोप दिखाई देता है और मौसम बदलने के बाद स्वतः गुम हो जाता है। हाँ लेकिन इतना अवश्य है कि उस प्रकोप के दौरान सबको एहसास करा देता है कि समय पर बचाव के उपाय करना आवश्यक है। हमें यह सोचना ही होगा कि ऐसे देश में जहाँ कई मौसम हों और वह भी इतने भिन्न और अति उग्र, ऐसे में वहाँ उस मौसम के कारण होने वाले उपद्रवों से शरीर को कैसे बचाएँ? अन्य देशों में इतने मौसम नहीं हैं इसलिए उन्हें बहुत ही सीमित उपायों की आवश्यकता रहती है, लेकिन हमारे देश में मौसम की इसी भिन्नता के कारण स्वाभाविक ही पारंपरिक रूप से भोजन, वस्त्र और चर्या को मौसम के अनुरूप ही बताया गया है। इनका उद्देश्य शरीर को उस विशिष्ट मौसम के लिए तैयार करने का ही है, जिससे उस मौसम में होने वाले स्वाभाविक रोगों से बचा जा सके, परंतु उन्हें हमने भुला दिया है। इसका दुष्प्रभाव यह हुआ है कि अब रोग ज्यादा भयानक रूप में प्रकट होने लगे हैं।

मौसम के बदलने, तनाव, अत्यधिक व्यायाम या परिवार में अनुवांशिक कारण से दमा रोग का प्रकोप होता है। इसके अलावा कई बार धूल, पशुओं के बाल या पक्षियों के पंख या किसी खाने की चीज से एलर्जी के कारण भी यह रोग होता है। आजकल बढ़ता प्रदूषण व तनावभरी जीवनशैली भी इस रोग के तेजी से बढ़ने का एक प्रमुख कारण है।

बाजार का प्रभाव भी कुछ ऐसा है कि तुरंत ही मच्छरमार दवाइयाँ (गुड नाइट आदि) के विज्ञापन और दावे इस प्रकार बढ़ जाते हैं कि जैसे वही एक सुरक्षित उपाय हो! और सभी उसके मकड़जाल में उलझ जाते हैं तथा यह भूल जाते हैं कि दिन-रात इनका प्रयोग हमारे और बच्चों के लिए कितना घातक होगा। अंततः मच्छर भी इनके प्रति प्रतिरोधी होते जाएँगे, जिससे ये उपाय भी निष्प्रभावी होते जाएँगे।

अब आने वाले मौसम शीतकाल की एक बहुत ही आम समस्या है दमा, साँस या अस्थमा। मैं इसके बचाव व उपचार के उपाय बताना चाहूँगी, ताकि इस मौसम में विशेष रूप से जो लोग श्वास रोग से प्रभावित होते हैं वे इससे अपना बचाव कर सकें।

क्या है दमा (अस्थमा)

दमा या श्वास रोग या अस्थमा किसी भी कारण से श्वास नली (साँस की नली) के अचानक सिकुड़ने से होता है, साँस लेने में कठिनाई होती है और दम घुटने लगता है।

क्यों होता है दमा

मौसम के बदलने, तनाव, अत्यधिक व्यायाम या परिवार में अनुवंशिक कारण से दमा रोग का प्रकोप होता है। इसके अलावा कई बार धूल, पशुओं के बाल या

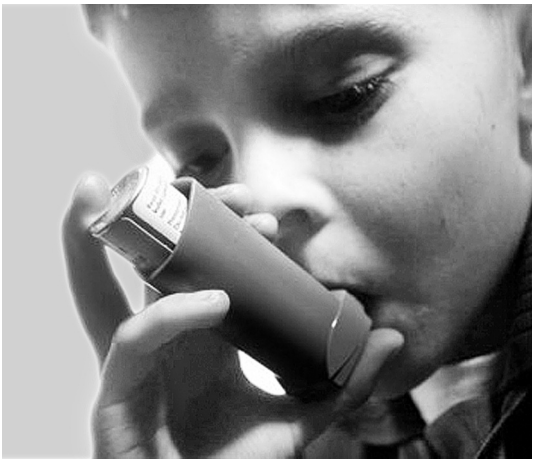

पक्षियों के पंख या खाने की किसी चीज से एलर्जी के कारण भी यह रोग होता है।

आजकल बढ़ता प्रदूषण व तनाव भरी जीवनशैली भी इस रोग के तेजी से बढ़ने का एक प्रमुख कारण है।

रोग के लक्षण व इसे कैसे पहचानें

- साँस लेने में कठिनाई होती है। लेटने से तकलीफ ज्यादा होती है। बैठकर थोड़ा आराम मिलता है।
- छाती में जकड़न महसूस होती है।
- दौरे के रूप में यानी वेग कुछ समय ज्यादा होते हैं।
- गले की दोनों हड्डियों (हँसलियों) के बीच का हिस्सा साँस लेते समय अंदर खिंचता है।
- पसलियों के बीच का हिस्सा अंदर खिंचता है।

■ बलगम बड़ी परेशानी से निकलता है।
■ साँस के साथ सीटी की तरह आवाज आती है।
■ साँस का दौरा ज्यादातर देर रात या अल स्सुबह आता है और रोगी अचानक दम फूलने के कारण उठकर बैठता है, लेटने में उसे परेशानी होती है।
■ दमा यदि किसी एलर्जी के कारण हो तो किसी भी समय हो सकता है। ऐसे में कोई चीज खाते या सूँघते ही दम घुटने (अटैक) लगता है।

ऐसा अटैक कुछ घंटों तक या कभी-कभी तो कुछ दिन तक बना रहता है, फिर धीरे-धीरे शांत होता है। ऐसा रोगी अटैक के बाद खुद को सामान्य महसूस करता है, लेकिन जब ऐसा बार-बार होता रहता है

तो पुराना दमे के रोगी को आप देखते ही पहचान सकते हैं– पीला (मुरझाया) चेहरा, सूखा शरीर व साँस फूलता हुआ।

क्या बरतें सामान्य सावधानियाँ

■ बीड़ी, सिगरेट व तंबाकू को तुरंत छोड़ दें।
■ थकाने वाला व्यायाम न करें। गहरी साँस लें या प्राणायाम नियमित करें।
■ यदि पशुओं के बालों से एलर्जी है तो पशुओं व पक्षियों को घर में न पालें।
■ अपने खाने की वस्तुओं पर ध्यान दें, यदि किसी खाद्य पदार्थ से एलर्जी महसूस हो तो उसे छोड़ दें।
■ दमा धूल के कारण होता है, तो धूल से बचें, नाक ढककर रखें या ऐसा व्यवसाय हो तो उसे बदलें।
■ मौसम, विशेषकर बदलते मौसम में ध्यान रखें।
■ नाक में तेल लगाएँ।

उपचार के सामान्य उपाय क्या करें

■ बार-बार थोड़ा गरम पानी या अदरक या अदरक-तुलसी का काढ़ा शहद या मिश्री मिलाकर बार-बार पिलाते रहें, इससे बलगम निकलने में सुविधा होगी।
■ तेल गरम करके थोड़ा सा कपूर या नमक मिलकर पीठ के ऊपर के हिस्से व छाती पर मालिश करें (ऊपर की ओर)।
■ छाती और पीठ की हलकी सिकाई से भी आराम मिलता है।
■ रोगी पीठ को ऊँचा रखे व लेटने की बजाय किसी सहारे से बैठे।

■ यदि बच्चों में साँस लेने में समस्या हो तो जायफल को घिसकर गरम कर छाती पर लगाएँ और जायफल माँ के दूध या पानी में चटाएँ।
■ खुली हवा में साँस लें।

क्या हैं नुस्खे

■ भूनी हुई लौंग शहद में मिलाकर दें।
■ सुहागा, शहद, मुलैठी चटाएँ।
■ अनार का छिलका उबालकर पिप्पली चूर्ण मिलाकर दें।
■ काली मिर्च को शहद में मिलाकर चटाएँ।
■ मेथी के काढ़े में अदरक का रस व शहद मिलाकर दें।
■ बहेड़े का टुकड़ा मुँह में रखें।
■ आँवला शहद से लें।
■ केले को चीरकर उसमें काली मिर्च डालें और कोयले पर पकाकर खाएँ।

दौरे में जो नुस्खे मदद करते हैं

■ आक की जड़ की छाल, सेंधा नमक व अजवायन को बराबर मिलाकर आधा-आधा ग्राम दिन में तीन बार लें। इसे दौरे के दौरान हर घंटे पर 2-3 बार गरम पानी से दें। इस नुस्खे से दौरा शांत होता है।
■ अडूसे के पत्ते उसमें थोड़े से धतूरे के पत्ते मिलाकर धूम्रपान कराने से आराम होता है।
■ कपूर और हींग बराबर मिलाकर 250 मिलीग्राम की गोली बनाकर रखें और अदरक के रस या गरम दूध से दें।
■ पुष्कर मूल, आँवला, पीपल (पिप्पली) चूर्ण को शहद से चटाएँ।
■ दूधी को चार कप पानी में एक चौथाई रहने तक उबालें और पिलाएँ।
■ छोटी कटेली का चूर्ण या उसके काढ़े को गुड़ या चीनी मिलाकर दें।

अडूसा भारत के प्रायः सभी प्रांतों में मिलता है। स्वर उत्तम करने वाला, तृष्ण, खांसी, श्वास ज्वर, क्षय, वमन, कुष्ठ, रक्त पित्त में लाभकारी है।

■ वासा के पत्ते का चूर्ण या काढ़ा गुड़ या चीनी मिलाकर दें।

■ घी क्वार का रस एक चम्मच व अडूसे का रस एक चम्मच मिलाकर मिश्री से दें।

कुछ अनुभूत योग

■ पीपल के फलों का कपड़छान चूर्ण तीन ग्राम दिन में दो बार 14 दिन तक लें।

■ शरद पूर्णिमा के दिन उपवास रखें और फिर रात को खीर बनाकर चाँदनी रात में रखें व सूर्योदय से पहले करीब 100 से 200 ग्राम खीर में 6 ग्राम पीपल की अंतर छाल का चूर्ण मिलाकर खाएँ।

अडूसा (वासा)

भारत के प्रायः सभी प्रांतों में मिलता है। स्वर उत्तम करने वाला, तृष्ण, खाँसी, श्वास, ज्वर, क्षय, वमन, कुष्ठ, रक्त पित्त में लाभकारी है।

■ तमक श्वास में पत्तों का धूम्रपान करें, साथ में यदि धतूरे के पत्ते हों तो बलगम आसानी से निकल पाता है। श्वास के आवेग को नष्ट नहीं करता, पर बलगम निकाल देता है। वासा सिद्ध घृत का उपयोग कर सकते हैं।

■ खाँसी में, जब बलगम निकलता हो, तब 1-1.5 मिलीग्राम स्वरस (पुष्पाक) को अदरक के रस या शहद से दें, उसी में पिप्पली मिला सकते हैं।

2. कंटकारी- सौंठ का काढ़ा। 3. बच्चों में स्वरस को टंकण के साथ दें।

■ मलेरिया में पत्तों का चूर्ण या मूल का चूर्ण दें।

■ आमवात संधिशोथ में पत्तों की पुल्टिस का उपयोग करें।.

■ इसके पत्तों में फल बाँधकर रखें तो वे सड़ते नहीं हैं। खेत में इसके पत्तों की खाद लाभकारी है।

ऊनी कपड़ों में इसके पत्ते रखें।

■ रक्त पित्त में वामा घृत या स्वरस तथा मधु का उपयोग करें।

■ आध्मान (अफारा) व अतिसार में स्वरस का प्रयोग लाभकारी है।

■ त्वचा रोग में -स्वरस का सेवन करें, इससे स्नान करें व लेप लगाएँ।

लेखिका अलीगढ़ यूनानी-आयुर्वेदिक कॉलेज में प्रोफेसर हैं।

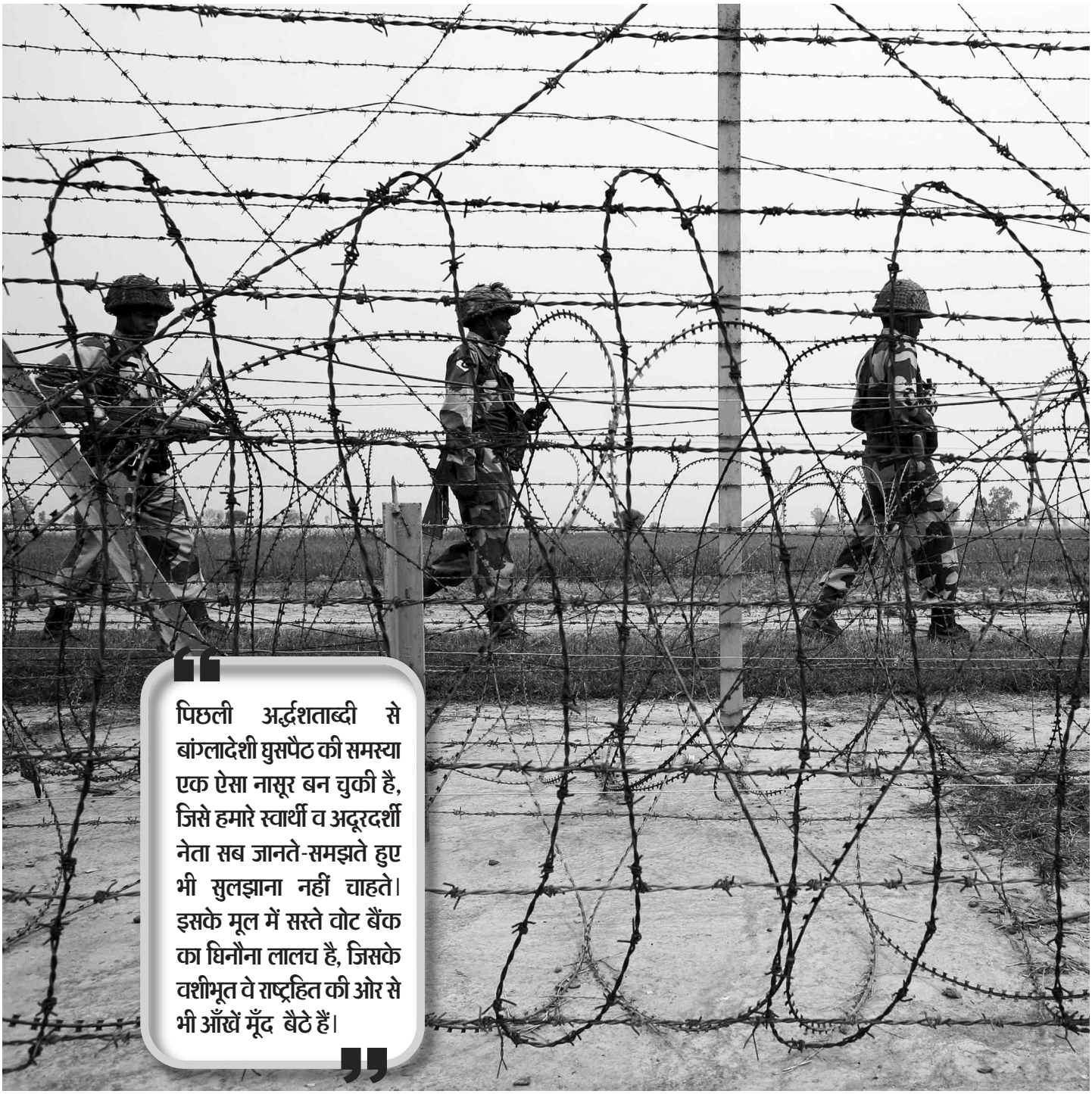

> पिछली अर्द्धशताब्दी से बांग्लादेशी घुसपैठ की समस्या एक ऐसा नासूर बन चुकी है, जिसे हमारे स्वार्थी व अदूरदर्शी नेता सब जानते-समझते हुए भी सुलझाना नहीं चाहते। इसके मूल में सस्ते वोट बैंक का घिनौना लालच है, जिसके वशीभूत वे राष्ट्रहित की ओर से भी आँखें मूँद बैठे हैं।

अजय ठाकुर

बांग्लादेशी घुसपैठ ...तुष्टीकरण की राजनीति

आज भारत को पाकिस्तान सीमा से लेकर बांग्लादेश की सीमा तक विषम चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। पाकिस्तान एक ओर जहाँ समय-समय पर उकसावे की कार्रवाई करता है और आक्रामक होकर भारतीय सैनिकों से उलझता रहता है, वहीं दूसरी ओर सीमा पार से घुसपैठ को भी बढ़ावा देता रहता है, जबकि भारत को दूरगामी परिप्रेक्ष्य में गंभीर आघात पहुँचाने की योजना से जुड़ी हुई ताकतें बांग्लादेश की जमीन का उपयोग करती रहती हैं। असम और पूर्वोत्तर के बांग्लादेशी सीमा से सटे राज्यों में घुसपैठ की समस्या कांग्रेस की अदूरदर्शिता का नतीजा है, जिसे वोट बैंक और तुष्टीकरण की नीति ने बढ़ावा दिया है।

साठ के दशक के आरंभ में जब असम के तत्कालीन मुख्यमंत्री बी.पी. चलिहा ने सीमापार से अवैध घुसपैठ को रोकने की पहल की तो उस समय भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें ऐसा करने से मना किया और इसमें तेजी से आगे बढ़ने से सचेत किया। हुआ यों कि जब बी.पी. चलिहा ने 'प्रिवेंशन ऑफ इनफिल्टरेशन फ्रॉम पाकिस्तान एक्ट 1964' कानून लाने की घोषणा की तो विधानसभा में कांग्रेस के 20 मुसलिम सदस्यों ने सरकार से बाहर जाने की धमकी दे डाली और इसे वापस लेने तक का दबाव बनाया। दबाव में आकर चलिहा ने इस विधेयक को वापस ठंडे बस्ते में डाल दिया।

इसी तरह जब 10 अप्रैल, 1992 को जब उस समय के मुख्यमंत्री हितेश्वर सेकिया ने असम में 30 लाख अवैध बांग्लादेशी मुसलमानों के मौजूद होने की बात कही तो एक कांग्रेसी कार्यकर्ता अब्दुल मुहिब मजूमदार के नेतृत्व में 'मुसलिम फोरम' ने मुख्यमंत्री सेकिया को चेतावनी देते हुए सरकार को पाँच मिनट में गिरा देने की धमकी दी, परिणाम स्वरूप यह भी दूसरी बाधा बनकर रह गई।

'असम समझौता' राजीव गांधी सरकार के लिए ऐतिहासिक मौका था, पर यह बांग्लादेश से गैरकानूनी घुसपैठ रोकने के मसले पर कोई समाधान नहीं निकाल पाया।

तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा 1983 में संसद के माध्यम से लाए गए आईएमडीटी एक्ट के तहत विदेशी पहचान के संदिग्ध आरोपी व्यक्ति को ट्रिब्यूनल के सामने पेश करने का प्रावधान भी व्यावहारिक नहीं बन पाया। आश्चर्यजनक रूप से 1971 को निर्धारक वर्ष मानकर 1951 से 1971 तक के बीच में बांग्लादेश (तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान) से अवैध रूप से घुसपैठ कर आए लोगों को भारत का नागरिक मान लिया गया। उच्च पदों पर बैठे लोगों ने भी बांग्लादेशी घुसपैठ को लेकर कई बार चेतावनी दी। यहाँ तक कि 1996 में आईबी के पूर्व प्रमुख एवं उत्तर प्रदेश के पूर्व राज्यपाल टी वी राजेश्वर ने अपने कई लेखों के माध्यम से बांग्लादेशी घुसपैठ को लेकर भारत के तीसरे विभाजन की आशंका जताई थी।

इसी तरह की आशंका सन् 1998 में असम के राज्यपाल एस. के. सिन्हा ने भी व्यक्त की थी। उन्होंने यह भी आगाह किया था कि असम में हो रही अवैध घुसपैठ से असम के भू-राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व वाले निचले हिस्से के जिलों को खोना पड़ सकता है। चूँकि इस तरह से इन जिलों में मुसलिम आबादी बढ़ती जाएगी और एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि इस क्षेत्र को बांग्लादेश में मिलाने की माँग जोर पकड़ने लगे। इस सब के पीछे तेजी से बढ़ रही अंतरराष्ट्रीय चरमपंथी ताकतों का हाथ है। अब जबकि यह माना जाने लगा है कि बांग्लादेश, धर्मनिरपेक्ष रहने के बजाय इस्लामिक राष्ट्र बनने की ओर बढ़ रहा है, ऐसी स्थिति में पूर्वोत्तर में बांग्लादेशी घुसपैठ के जारी रहने से यह हिस्सा, जहाँ शेष भारत से अलग हो सकता है, वहीं दूसरी ओर भारत को इस क्षेत्र के विशाल प्राकृतिक संसाधनों से भी हाथ धोना पड़ सकता है।

वोट बैंक की छिछली राजनीति के कारण ही बांग्लादेशी

2047 तक असम की अपनी आबादी होगी अल्पसंख्यक !

- उपमन्यु हजारिका आयोग ने सुप्रीम कोर्ट को सौंपी रिपोर्ट
- बांग्लादेश से घुसपैठ को लेकर जांच करने की सिफारिश

गुवाहाटी, प्रेट्र : उपमन्यु हजारिका आयोग ने भारत-बांग्लादेश सीमा को लेकर सुप्रीम कोर्ट को सौंपी अपनी रिपोर्ट में बांग्लादेश से हो रहे घुसपैठ की उच्च स्तरीय जांच का आदेश देने की अनुशंसा की है। रिपोर्ट में कहा गया है कि बांग्लादेश से अवैध रूप से आने वाले लोगों के कारण 2047 तक असम की अपनी आबादी के अल्पसंख्यक हो जाने का खतरा मंडरा रहा है।

सुप्रीम कोर्ट द्वारा गठित इस एक सदस्यीय आयोग ने पांच अक्टूबर को अपनी रिपोर्ट सौंपी है। इस संबंध में सुप्रीम कोर्ट ने केंद्र और असम सरकार को निर्देश दिया है कि वे आयोग की अनुशंसा को लेकर चार सप्ताह में अपना जवाब दाखिल करें। इस मामले की अगली सुनवाई पांच नवंबर को होगी। आयोग ने नदी के तटीय इलाकों में सीमांकन कर 'स्टेराइल जोन' का विकास करने और वहां के ग्रामीणों को पहचान पत्र देने का भी सुझाव दिया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि सीमा की सुरक्षा में तैनात एजेंसी स्टेराइल जोन के पक्ष में है, लेकिन इस संबंध में केंद्र सरकार और राज्य सरकार की ओर से नीतिगत निर्णय की अभी प्रतीक्षा की जा रही है। आयोग का मानना है कि अवैध रूप से बांग्लादेशियों के घुस आने का प्राथमिक कारण जमीन प्राप्त करने की होड़ है। अपनी अनुशंसा में आयोग ने कहा है कि भूमि के हस्तांतरण में एक सीमा होनी चाहिए, चाहे यह खरीद-बिक्री या उपहार के रूप में ही क्यों न हो। सरकार या किसी अन्य एजेंसी द्वारा भूमि आवंटित करने को लेकर भी इस सीमा का पालन किया जाना चाहिए। 1951 में भारत के नागरिक रहे लोगों और उनके वंशजों को ही भूमि हस्तांतरित की जानी चाहिए।

असम में बांग्लादेश से हो रही घुसपैठ के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त एक सदस्यीय कमीशन के सदस्य उपमन्यु हजारिका ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि अगर घुसपैठ इसी तरह जारी रही तो असम में वर्ष 2047 तक भारतीय अल्पसंख्यक हो जाएँगे। - *दैनिक जागरण 26 अक्तूबर 2015*

घुसपैठ का आजतक समाधान नहीं हो पाया है। 'सेंटर फॉर पॉलिसी स्टडी' के आँकड़े भी इस तथ्य को भलीभाँति बयाँ कर रहे हैं -

इन आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि किस तरह से भारतीय

जिला	भारतीय धर्मावलंबी 1991	2001	गिरावट %
धुबरी	28.95	24.94	5.90
कोकराझार	70.85	65.92	5.24
नालबाड़ी	78.98	40.31	9.67
बोंगइगाँव	65.04	59.41	2.35

धर्मावलंबी निचले असम के इन हिस्सों से पलायन को मजबूर हैं। यह स्थिति राज्य के अन्य हिस्सों में भी जारी है। यहाँ तक कि बांग्लादेश सीमा से सटा भारत का पूर्वी हिस्सा

46 प्रतिशत मुसलिम बाहुल्य हो चुका है, यथा–

अररिया	41	किशनगंज	68
कटिहार	43	पूर्णिया	37
साहिबगंज	31	पाकूर	32
मुर्शिदाबाद	64	मालदा	50
बीरभूम	35	उत्तरदिनाजपुर	47
बोंगईगाँव	39	दक्षिणदिनाजपुर	24
धूबरी	74	गोपालपाड़ा	54
कामरूप	25	बारपेटा	59
नालबाड़ी	22	दारंग	36
नगाँव	5	मरिगाँव	48
हैलाकांडी	58	कचार	36
करीमगंज	52		

जैसे जिले अब बांग्लादेशी मुसलिम प्रभाव वाले हो चुके हैं।

ऊपर दिए गए आँकड़े 2001 की जनगणना पर आधारित है, चूँकि 2011 जनगणना के आँकड़े इतने भयावह हैं कि पूर्ववर्ती सरकार इसे जारी करने की हिम्मत नहीं जुटा पाई।

यह केंद्र और राज्य सरकार की नाकामी रही है, जिसके कारण असम के बांग्लादेशी सीमा से सटे जिलों में अकसर अवैध बांग्लादेशी मुसलिमों की तादाद बढ़ती रही है और यह कई वर्षों से हो रहे बोडो और बांग्लादेशी मुस्लिमों के बीच हिंसात्मक संघर्ष का भी कारण रहा है। बोडो इलाकों में रह रहे बोडो जनजातियों को यह आशंका घर कर गई है कि कहीं वे अपनी ही जमीन को खोने के साथ-साथ उपेक्षित भी न हो जाएँ। असम के महान् सांस्कृतिक कलाकार और गायक भूपेन हजारिका ने अपने गीत में भी यह पीड़ा व्यक्त करते हुए गाया कि किस तरह असमी अपनी भूमि को बचाएँ, वरना असम में ही वे बेगाने हो जाएँगे।

असम में कई दशकों से हो रहे संघर्ष को अब नृजातीय एवं धार्मिक संघर्ष कहा जाने लगा है, जबकि इसका कारण बड़ी तादाद में बांग्लादेश से हो रही घुसपैठ है ।

असम में हो रही घुसपैठ की त्रासदी कांग्रेस पार्टी की राजनीतिक लालसा और अदूरदर्शिता की राजनीति रही है, जो यह मानने से इनकार करती रही है कि घुसपैठिए बांग्लादेशी हैं और यह हिंदू-मुसलिम से जुड़ा मुद्दा है ।

जुलाई 27, 2005 को भारत के सर्वोच्च न्यायालय के तीन जजों की खंडपीठ ने 'आईएमडीटी एक्ट' को निरस्त कर दिया और इसके बदले केंद्र और राज्य सरकार को 'फॉरेन ट्रिब्यूनल ऑर्डर 1964' के तहत ट्रिब्यूनल स्थापित करने तथा अवैध बांग्लादेशी घुसपैठियों को चिह्नित करने का आदेश दिया। न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 355 का हवाला देते हुए यह भी ध्यान दिलाया कि किस तरह असम में बड़े पैमाने पर हो रही अवैध बांग्लादेशी घुसपैठ राज्य के लिए आंतरिक अशांति एवं बाह्य चिंता का सबब बन चुकी है। इस स्थिति में केंद्र सरकार की यह जिम्मेवारी बनती है कि वह राज्य के हितों की रक्षा करे।

जस्टिस रंजन गोगोई और आर.एफ. नरीमन की बेंच ने असम सरकार के एक कनिष्ठ अधिकारी द्वारा बांग्लादेशी घुसपैठ पर एक अप्रैल, 2015 को सर्वोच्च न्यायालय को दिए गए उस आधे-अधूरे शपथपत्र देने पर भी कड़ा एतराज जताया, जिसमें माननीय न्यायालय के 17 दिसंबर, 2014 के आदेश को लागू करने की बात कही गई थी। यह घिसा-पिटा ढर्रा कांग्रेस सरकार की पुरानी तरकीब रही है।

अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि बांग्लादेशी

सीमा से सटे राज्यों की तकदीर अवैध तरीके से बांग्लादेश से भारत में आकर बसे मुसलमान ही तय कर रहे हैं। स्थिति तो यहाँ तक पहुँच चुकी है कि असम की 40 विधानसभा की सीटें और पश्चिम बंगाल में कुल 294 में से 53 विधानसभा की सीटें बांग्लादेशी मुसलिम बाहुल्य हैं।

हाल ही में भारत के राष्ट्रपति श्री प्रणब मुख़र्जी ने भी बांग्लादेशी घुसपैठ की समस्या को स्वीकार किया। इससे इतर कांग्रेस की सरकार ने घुसपैठियों को वोट बैंक के रूप में देखा और उन्हें वोटर आईडी कार्ड से लेकर हर वह सुविधा मुहैया कराई, जो भारतीय नागरिकों को प्राप्त है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि सीमा पार से आए ये घुसपैठिए ही सरकार का भविष्य निर्धारण करने लगेंगे।

15 जुलाई, 2004 को तत्कालीन केंद्रीय गृहराज्यमंत्री श्रीप्रकाश जायसवाल ने राज्यसभा में जानकारी देते हुए बताया था कि 31 दिसंबर, 2001 तक के आँकड़ों के अनुसार कुल 1 करोड़ 20 लाख 53 हजार 950 बांग्लादेशी अवैध तरीके से भारत के 17 राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में रह रहे हैं। तब प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह उन दिनों गुवाहाटी के दौरे पर थे और कांग्रेस के स्थानीय नेताओं ने उन्हें संबंधित मंत्री के बयान से आगामी 2006 के असम विधानसभा चुनाव में होने वाले नुकसान के बारे में भी सचेत किया था। पार्टी नेताओं ने मनमोहन सिंह को अपने मंत्री के कथन पर खेद व्यक्त करने तक की सलाह दे डाली, परिणामस्वरूप मनमोहन सिंह ने मंत्री की जानकारी को अप्रामाणिक बताया।

एक सप्ताह बाद ही मंत्री जायसवाल ने संसद् को अलग जानकारी दी और उन्होंने अपनी पूर्व की जानकारी को अविश्वसनीय बताया और इसे कानोसुनी कहा। वहीं पूर्व सीबीआई प्रमुख जोगिंदर सिंह के अनुसार अब तक 5 करोड़ से अधिक बांग्लादेशी घुसपैठ कर भारत में आ चुके हैं।

बांग्लादेशी कट्टरपंथी और चरमपंथी एक 'वृहद् बांग्लादेश' की योजना को अंजाम देने पर काम कर रहे हैं जिसमें पश्चिम बंगाल, असम, बिहार और झारखंड को शामिल करने की बात है। 1960 और 1970 के दशक में भारत की अच्छी आर्थिक स्थिति और एक दूसरे से सटी लंबी अंतरराष्ट्रीय सीमा के कारण बांग्लादेश (तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान) से बड़े पैमाने पर पलायन कर लोग भारत की सीमा में दाखिल होने लगे थे। यही कारण था कि भारत के कांग्रेसी नेताओं को उनमें सस्ते वोटर की संभावना दिखी, जो जीत की दहलीज और अंतर के लिए काफी था।

इस सस्ते वोट बैंक का लालच आगे चलकर अल्पसंख्यक तुष्टीकरण में तब्दील हो गया, जिसे बाद में मुसलिम वोट बैंक का पर्याय माना जाने लगा। बांग्लादेशी घुसपैठ की समस्या की जड़ यहीं से जुड़ी हुई है।

भारत की स्वतंत्रता के उपरांत ही अल्पसंख्यक आरक्षण (मुसलिम आरक्षण) की माँग जोर पकड़ने लगी थी, जिसे संविधान निर्माताओं ने सिरे से खारिज कर सांप्रदायिक आरक्षण को ठुकरा दिया था, पंडित नेहरू और इंदिरा गाँधी के द्वारा मुसलिम तुष्टीकरण के लिए जो भी प्रयास हुए उसका फायदा आगे राजीव गांधी को मिला, तभी तो सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक फैसलों 'मोहम्मद खान बनाम शाहबानो बेगम (क्रिमिनल प्रोसिज्योर कोड 1973 के धारा 125), जो तलाकशुदा मुसलिम महिला के परवरिश पर आधारित था, को तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी के अगुआई में कांग्रेस सरकार ने एक नया कानून बनाकर पलट दिया।

राजीव गाँधी के निर्णय ने ऑल इंडिया मुसलिम पर्सनल लॉ बोर्ड को इस कदर हावी कर दिया कि वह अब मुसलिम महिला से जुड़े किसी भी प्रगतिशील मुद्दे पर अपने वीटो का इस्तेमाल करने लगा। यहाँ तक कि इस्लामिक देशों, जैसे– तुर्की या ट्यूनिसिया तक में भी एक से अधिक पत्नियाँ रखने की छूट नहीं है, जबकि

बांग्लादेशी कट्टरपंथी और चरमपंथी एक 'वृहोत बांग्लादेश' की योजना को अंजाम देने पर काम कर रहे हैं जिसमें पश्चिम बंगाल, असम, बिहार और झारखंड को शामिल करने की बात है। 1960 और 1970 के दशक में भारत की अच्छी आर्थिक स्थिति और एक दूसरे से सटी लंबी अंतरराष्ट्रीय सीमा के कारण बांग्लादेश (तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान) से बड़े पैमाने पर पलायन कर लोग भारत की सीमा में दाखिल होने लगे थे।

भारत में कोई मुसलमान चार पत्नी भी रख सकता है। यहाँ तक के आजादी के 65 साल बाद भी 'समान आचार संहिता' अभी भी राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों के लिए सपने जैसा ही है, जो यह दरशाता है कि भारत में वोट बैंक की राजनीति किस कदर हावी रही है। यूपीए नीत कांग्रेस सरकार के समय गठित राजेंद्र सच्चर समिति ने सांप्रदायिक आधार पर जनगणना का प्रस्ताव रखा, जिसमें रक्षा क्षेत्र में, यानी सेनाओं में भी मुसलिमों की गिनती की बात उठाई गई, जिसे तत्कालीन सेना प्रमुख जे.जे. सिंह ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि इससे सेना के मनोबल और संस्थागत ढाँचे पर विपरीत असर पड़ेगा। इससे यह भी पता चला कि सोनिया गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस वोट बैंक राजनीति के लिए किस हद तक गिर सकती है।

सच तो यह है कि मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्री रहते हुए अल्पसंख्यक तुष्टीकरण का स्तर इस कदर नीचे गिर गया था कि अकसर यह कहा जाने लगा था कि यूपीए सरकार बहुसंख्यक हिंदू जनता के प्रति घृणा को बढ़ावा दे रही है। बहुप्रचारित 'सांप्रदायिक एवं लक्षित हिंसा निवारक विधेयक 2011' इसी दिशा में बढ़ रहा एक गंभीर प्रयास था। इस बिल को ड्राफ्ट करने वाला शख्स सोनिया गांधी का करीबी था जिसकी नजर में सांप्रदायिक दंगों के लिए हिंदू जिम्मेवार होंगे और इस स्थिति में बहुसंख्यक समुदाय पर ही आरोप लगेगा और यहाँ तक कि सांप्रदायिक वारदात के समय तैनात कोई भी हिंदू अधिकारी बिना संलिप्तता के भी अभियुक्त ठहराया जा सकेगा।

भारत में वंशवादी राजनीति ने अपनी ओछी सोच से कई विषैले बीज बोने का काम किया है– छद्म धर्मनिरपेक्षता, अल्पसंख्यक तुष्टीकरण, वोट बैंक की राजनीति तथा हमारे राष्ट्र के पवित्र धार्मिक चिह्नों एवं मान्यताओं का मखौल उड़ाना इसी रणनीति का हिस्सा है।

अब समय आ गया है, जब भारत ने नरेंद्र मोदी जैसे सक्षम, दूरदर्शी एवं कुशल प्रशासक के नेतृत्व में आगे बढ़ने का निर्णय लिया है। भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की इन्ही विशेषताओं के कारण हाल ही में अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने उनके बारे में प्रसिद्ध टाइम पत्रिका के 'प्रोफाइल टाइटिल' में मोदी का जिक्र 'भारत के मुख्य सुधारक' के रूप में किया है। अब इस सब के आलोक में अहम सवाल यह उठता है कि क्या प्रधानमंत्री, कांग्रेस सरकार की मुसलिम तुष्टीकरण और वोट बैंक की राजनीति से अलग हटकर बांग्लादेशी घुसपैठ की समस्या से जूझ रहे भारत की एकता, अखंडता और राष्ट्रीय सुरक्षा को अक्षुण्ण रखने में सफल रहेंगे?

अब यह भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को तय करना है कि उनसे 'मुख्य सुधारक' की अपेक्षा रख रहे 125 करोड़ भारतीय जनमानस की उम्मीदों को वे किस तरह पूरा करते हैं।

लेखक भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व अधिकारी हैं ।

मनोगत

मान्यवर महोदय,

आपके स्नेह और सहयोग के बल पर 'मंगल विमर्श' पत्रिका दूसरे वर्ष में प्रवेश कर रही है। दूसरे वर्ष का पहला अंक आपको सौंपते हुए सुखद संतोष की अनुभूति हो रही है। पत्रिका के जुलाई अंक के लिए सुधी पाठकों की बहुत प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुई हैं, जो हमारे लिए बहुत प्रेरक और मार्गदर्शक हैं। राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष ब्रज किशोर शर्मा जी अपने पत्र में

लिखा है कि 'मंगल विमर्श' का जुलाई, 2015 अंक प्राप्त हुआ। अब तक 'दलित विमर्श', 'स्त्री विमर्श' जैसे प्रयोग देखे थे, 'मंगल विमर्श' कुछ भिन्न लगा। श्री बनवारीजी का खोजपूर्ण लेख प्रशंसनीय है। मैं इस प्रयास में था कि 'खाप' के बारे में जानकारी प्राप्त की जाए। इतना तो मन में लगता था कि इनके पीछे एक दीर्घकालिक परंपरा रही होगी, तभी आज भी खाप के नाम से लोग एकत्र होते हैं। राजनीतिक दल और सरकार धन व्यय करके भी लोगों को जुटा नहीं पाते। अंग्रेजों ने अपने विशेष स्वार्थ की दृष्टि से हमारी सामाजिक संस्थाओं का जो अध्ययन प्रस्तुत किया वह साधारणतः सत्य से दूर था। मार्क्सवादियों ने, जो शिक्षा संस्थाओं में कब्जा किए हुए थे, उसी अध्ययन को केंद्र में रखा।

संविधान सभा में जब यह प्रश्न उठाया गया कि हमारे संविधान में कहीं भी पंचायत व्यवस्था की छाया भी नहीं दिखाई देती है, तो बाबा साहेब अंबेडकर ने पंचायत के संबंध में जो कहा था, वह शुद्ध रूप से सर हेनरी मेन की पुस्तक पर आधारित था। यदि बाबा साहेब को वह सब जानकारी होती, जो श्री बनवारी जी के लेख में है तो वे कुछ और वक्तव्य देते। श्री बनवारी का लेख जिन स्रोतों पर आधारित है, यदि उनकी मुझे जानकारी मिल जाए तो मैं कुछ स्वाध्याय कर सकूँगा। डॉ. प्रमोद दुबे प्रतिष्ठित विद्वान हैं। डॉ. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपने विचारों के पक्षपोषण के लिए पूर्वग्रह से ग्रसित होकर तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर जो भ्रांति फैलाने का प्रयास किया है, उसका डॉ. दुबे ने अपने लेख में पर्दाफाश कर दिया है। इस प्रकार के प्रयास अधिकाधिक होने चाहिएँ। कुछ पारिभाषिक शब्दों का (साधारण पाठक को समझ में आए इस दृष्टि से) अर्थ बता देना चाहिए, जैसे इस लेख के प्रारंभ में प्रयुक्त 'आन्वीक्षकी' शब्द से अधिकांश पाठक अपरिचित होंगे। लेख केवल विद्वज्जनों के लिए ही नहीं साधारण जन के लिए भी सुगम हो।

'मंगल विमर्श' द्वारा सामाजिक सरोकारों से संबद्ध विषयों पर आयोजित की जाने वाली संगोष्ठियों के क्रम में 'सबंध' विषय पर, 11अक्तूबर, 2015 को एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया था, जिसमें विद्वान वक्ताओं ने विविध पहलुओं से संबंधों की व्याख्या करते हुए, इसकी महत्ता पर प्रकाश डाला। प्रायः सभी वक्ताओं

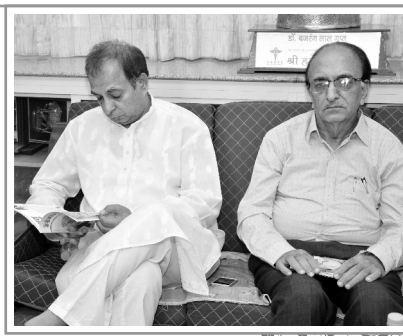

ने कहा कि जहाँ त्याग होता है, समर्पण होता है, वहीं संबंध बनते हैं और जहाँ स्वार्थ होता है वहाँ संबंध टूटते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत के विभागाध्यक्ष डॉ. रमेश भारद्वाज ने भारतीय वैदिक परंपरा का उल्लेख करते हुए कहा कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में संपूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए परस्पर संबंध की स्थापना हुई। भारतीय संस्कृति का आधार परिवार है, रामायण इसका प्रबल उदाहरण है। जब तक भारतीय संस्कृति में परिवार है तब तक भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण है। विदेश में अध्यापन के दौरान अनेक महिला प्रशिक्षु उत्सुकतापूर्वक उनसे यह पूछती थी कि भारतीय परिवार कैसे इतने सफल और पीढ़ी दर पीढ़ी चल पाते हैं? वास्तव में इसके मूल में भारतीय संस्कृति में विद्यमान संबंधों की नैसर्गिकता है। विवाह एक आध्यात्मिक कृत्य है, उसके आगे समर्पण और कर्तव्य की अविरल धारा का प्रवाह प्रारंभ होता है। उन्होंने बताया कि आप अपने बच्चों में संस्कार ठूस नहीं सकते हैं, वरन् आपका स्वयं का आचरण ही बच्चों में संस्कार बन जाता है। मेरा अपने माता-पिता के साथ संबंध कैसा है यही, आधार मेरे संतान के साथ संबंध तय करता है।

जैन दर्शन के विद्वान् श्री मुन्नालाल जैन ने संबंधों में संवाद की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि विश्व के दो आदि तत्त्व हैं– जड़ और चेतन। संबंध का मूल आधार मैं और अन्य में संबंध है। विश्व में जो भी चेतन है उससे विरक्त नहीं रहा जा सकता। भगवान महावीर ने संबंधों के संदर्भ में विस्तार से इनका महत्त्व बताया और कहा कि महानिर्वाण प्राप्त करो अर्थात् यदि मुक्ति चाहिए तो परमात्मा से संबंध स्थापित करना ही होगा। संबंध हमें पूर्व जन्म से भी जोड़ता है। सूक्ष्म संबंध भी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष संबंध, मधुर-कटु संबंध, व्यावसायिक संबंध, परोपकारी संबंध, क्षणिक संबंध। संबंध अनेक प्रकार के हो सकते हैं। संबंध से परे जीवन जीने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। संबध बिना संवाद के नहीं हो सकता। अंगों से अंगों का संबंध होता है, जो नैसर्गिक है। प्रकृति के साथ हमारे दृढ संबंध होते हैं, जैसे परमात्मा-आत्मा का संबंध। प्रभु के मंदिर में इसलिए जा रहा हूँ कि मेरे अभाव दूर हो जाएँ, ये कृत्रिम संबंध हैं। नैसर्गिक संबंध पवित्र होता है। श्रेष्ठ समाज की कल्पना मात्र हमारे विचार से नहीं होने वाली है, इसके लिए हमारा संबंधों में संवाद स्वस्थ होना चाहिए।

पंजाब व हरियाणा के एडीशनल सॉलीसीटर जनरल अजय बंसल ने संबंधों के कानूनी पक्ष पर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने बताया कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों के बिना संबंध स्थापित नहीं हो सकता। हर संबंध का प्रारंभ अधिकार और कर्तव्य से होता है। जन्मकाल से संबंध की स्थापना होती है, जैसे माँ-पुत्र, पुत्री, भाई-बहन, चाचा-चाची, दादा-दादी। कानून के परिदृश्य में संबंधों को सुदृढ़ता से व्याख्यायित किया गया है। संबंध पारदर्शी होते हैं। जहाँ संबंधों की पारदर्शिता नहीं होती है वहाँ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। संबंधों में समस्या वहाँ उत्पन्न होती है, जहाँ स्वार्थपरकता आ जाती है। जब पारदर्शिता समाप्त हो जाती है तो संबंध विखंडन की तरफ चला जाता है।

एनसीईआरटी में वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ. प्रमोद दुबे ने कहा कि पं. दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्ममानववाद में परस्परावलंबी संबंधों को परिभाषित किया है। जब

एकात्म चेतना प्रवाहित होती है तो समरसता आती है। एकात्म संबंध वास्तव में नैसर्गिक हैं। आज के संदर्भ में संबंध प्रतिफलन चाहता है। समष्टि का व्यष्टि से संबंध महत्त्वपूर्ण है। संबंध में मात्र मानव नहीं प्राणिमात्र से समरसता को अपनाना चाहिए। दिल्ली विश्वविद्यालय में रसायन विभाग के पूर्व अध्यक्ष डॉ. हरीश सक्सेना ने बताया कि अध्यापन में मुझे जो आनंद आया वह कहीं ओर संभव नहीं था, इसीलिए इस आनंद को छोड़ कर कही ओर जाने का मन नहीं किया। माता-पिता के बाद सबसे घनिष्ठ और पवित्र संबंध अध्यापक एवं छात्र के मध्य होता है। विद्यार्थी विद्यालय में एक पक्षी की भाँति आता है, जहाँ शिक्षक उसके पंखों को पुख्ता कर जीवन की उड़ान के लायक तैयार करने के साथ ही ज्ञान और संस्कार प्रदान करता है।

प्रख्यात लेखक डॉ. अविनिजेश अवस्थी ने संबंधों की कैमिस्ट्री को समझाया। उन्होंने कहा कि मार्क्सवाद कहता है जो कमाएगा वह खाएगा जबकि एकात्ममानववाद कहता है जो कमाएगा वह सब को खिलाएगा। इस सिद्धांत में संवाद और संबंध मुख्य कारक हैं। आज हम एकाकी होते जा रहे हैं। दूसरों के लिए जीना एक सुखद अनुभूति होती है। कहा जाता है एकतरफा संबंध हैं परंतु कोई भी संबंध एकतरफा नहीं हो सकता है। जान-पहचान ही केवल संबंध नहीं हैं। हम यांत्रिकता की ओर बढ़ रहे हैं। यांत्रिकता यानी यंत्रों का कोई परस्पर संबंध नहीं होता है और ना ही कोई अनुभूति होती है। मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' संबंधों की विरक्तता और खोखलेपन को व्यक्त करता है। जब एक सास बहू को अपनी किडनी देकर उसकी जान बचाती है तो यह संबंधों का सकारात्मक पक्ष है।

किसान चैनल के सलाहकार नरेश सिरोही ने कहा कि संबंध ही हमारी पूँजी होते हैं। यह एक वैज्ञानिक व सामाजिक विषय है। संबंध संवेदना से ही बनता है। एक दूसरे के प्रति संवेदनशीलता होती है। संवेदना सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकती हैं। संवेदना जागृत होने से हम अनुबंधित हो जाते हैं। अनुबंध निभाने के लिए प्रतिबंध और अनुशासन आवश्यक है। सुख-दुःख में शामिल होना और बंधन में रहना, हमें एक सूत्र में बांधता है, हम प्रगाढ़ता की ओर बढ़ते हैं। संबंधों में बलिदान होने का भाव भी उत्पन्न हो जाता है। चार्टर्ड एकाउंटेंट सुनील महेश्वरी ने कहा कि हमें अपने शरीर से मधुर संबंध रखने चाहिएँ। हम अपने शरीर से मित्रता भी नहीं करते हैं, शत्रुता का भाव रखते हैं। हमें अपने शरीर से मैत्री संबंध रखने चाहिएँ। डॉ. नीलम नाथ ने युवा पीढ़ी की संबंधों के प्रति उदासीनता पर चिंता प्रकट की। उन्होंने इस संगोष्ठी का संदेश युवाओं तक पहुँचाने की जरूरत बताई। सेवानिवृत बैंक प्रबंधक वेदप्रकाश गुप्ता ने कहा कि व्यक्ति जब तक स्वार्थ व लाभ की वजह से आत्मकेंद्रित रहता है तब तक वह प्रत्यक्ष संबंध को महसूस नहीं कर सकता। एक संबंध प्रत्यक्ष होता है और एक सूक्ष्म होता है। हम सब में उसी प्रकार एक आत्म तत्त्व हैं जैसे प्रत्येक परमाणु में इलेक्ट्रोन और प्रोटोन एक जैसे होते हैं।

'मंगल विमर्श' के प्रधान संपादक ओमीश परुथी ने कहा कि भले ही हम अपनी बात संबंधों के आदर्शों की करें परंतु आज विडम्बना यह है कि संबंधों में शून्यता आ रही है, जो गंभीर चिंतन का विषय है। मंगल सृष्टि के सचिव तिलक चानना जी ने संगोष्ठी के सफल आयोजन के लिए सभी वक्ताओं और अतिथियों का आभार व्यक्त किया।

स्नेहाकांक्षी
आदर्श गुप्ता

सहयोगी वृंद

1. श्री विनय कुमार गुप्ता
76, तरुण एंक्लेव, पीतमपुरा
नई दिल्ली- 110034

2.श्री देविंदर सिंह
एच-51, शिवाजी पार्क,
पंजाबी बाग वेस्ट, नई दिल्ली- 110026

3. एम एल सिंघी एंड एसोसिएट्स
173, दीपाली एंक्लेव,
पीतमपुरा, दिल्ली- 110034

4. वी ए स्टील कोर्पोरेशन
एक्स-47, लोहा मंडी,
नारायणा, दिल्ली- 110028

5. श्री सतीश चन्द गुप्ता
259, दीपाली, पीतमपुरा, दिल्ली- 110034

6. श्री राज कुमार अग्रवाल
सी- 120, अंतरिक्ष अपार्टमेंट,
सेक्टर- 14 एक्स., रोहिणी, दिल्ली- 110085

7. श्री हेम चन्द जैन
सी-22, अहिंसा विहार, सेक्टर- 9,
रोहिणी, दिल्ली- 110085

8. प्रो. योगेश सिंह
131, नव संसद विहार, सेक्टर- 22 ,
द्वारका, दिल्ली- 110075

9. श्री कमल भसीन
87, गली नं.- 1, मेन शंकर नगर,
कृष्णा नगर, दिल्ली- 110051

10. श्री ओमप्रकाश सखलेचा
सी-195, गोल्फ व्यू अपार्टमेंट,
साकेत, नई दिल्ली- 110017

11. श्री सुरेश कुमार गर्ग
फ्लैट नं.- 50, जी एच- 29, मनसादेवी
कॉप्लेक्स, सेक्टर- 5, पंचकुला,
हरियाणा- 134114

12. श्री तुलसी टावरी
604 ए, 65 मातोश्री, तिलक नगर,
चेम्बूर, मुंबई- 400089

13. श्री अरविंद कुमार
एल एफ- 27, श्री कृष्णापुरी,
पटना, बिहार- 800001

मंगल विमर्श

सदस्यता -प्रपत्र

मंगल विमर्श **त्रैमासिक पत्रिका**

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंगलाल गुप्ता

प्रधान संपादक
ओमीश परुथी

संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल

प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

सदस्यता -शुल्क

10 वर्षों के लिए

₹2000 मात्र

पत्रिका सदस्यता शुल्क हेतु
मंगल सृष्टि (Mangal Srushti)
के नाम चैक/ड्राफ्ट सी-84, अहिंसा विहार,
सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली- 110085 पर भेजें।
फोन नं. +91-9811166215,
+91-11-27565018

मंगल विमर्श की..... वर्षों की सदस्यता हेतु.....

रुपये का ड्राफ्ट/चैक क्रं. ..... दिनांक.....

बैंक..... भेज रहे हैं,

कृपया..... वार्षिक सदस्य बनाने का कष्ट करें।

नाम.....

पता.....

.....

..... पिनकोड .....

फोन :..... मोबाइल:.....

इ-मेल.....

इ-मेल mangalvimarsh@gmail.com **वेब साइट** www.mangalvimarsh.in